ब्रजलोक-संस्कृति

[लोक-संस्कृति के अध्ययन और निर्माण पर
अधिकारी विद्वानों के अभिभाषण]

सम्पादक : सत्येन्द्र

प्रकाशक—
ब्रज-साहित्य-मण्डल
मथुरा ।

सूरजयन्ती २००५

मुद्रक—
साहित्य प्रेस,
आगरा ।

ब्रज-लोक-संस्कृति

विषय-सूची

भूमिका

यह पुस्तक 'ब्रजलोक-संस्कृति' पाठकों के हाथ में है। यह पुस्तक कैसे तय्यार हुई और क्यों हुई यह आगे के अध्याय से प्रकट होगा। हमें खेद है कि हम इसमें दो-तीन आवश्यक भाषण नहीं दे सके। अन्तिम क्षण तक हमें इन भाषणों की प्राप्ति का आश्वासन मिलता रहा। पुस्तक इन भाषणों के लिए कितने ही समय तक रुकी रही, पर वे भाषण न आ सके। उन भाषणों के वचन अब भी हमें मिले हुए हैं। संभवतः उनका उपयोग अगले संस्करण में किया जायगा। इन प्रस्तावित भाषणों के स्थान पर जो भाषण शिविर में हुए थे, वे भी हम नहीं दे सके। आश्वासनों पर भरोसा किये हम अब तक रुके रहे, और अब पुस्तक को प्रकाशित करना अनिवार्य हो गया। अतः वे भाषण नहीं दिये जा सकते। हम पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हैं।

इस पुस्तक में जो चित्र दिये गये हैं, वे सभी मथुरा पुरातत्व संग्रहालय से मिले हैं। उक्त संग्रहालय के क्यूरेटर महोदय श्री कृष्ण-दत्त वाजपेयी का इस पुस्तक की चित्र-व्यवस्था में पूरा हाथ रहा है।

ब्रज-साहित्य-मण्डल अभी इस पुस्तक को प्रकाशित नहीं कर पाता यदि श्री गुरुदत्तजी चतुर्वेदी ने इसकी छपाई का समस्त व्यय प्रदान न किया होता। यह पुस्तक उनकी स्वर्गीया पुत्री के स्मारक स्वरूप प्रकाशित की जा रही है।

मण्डल के प्रधान-मन्त्री श्री गोपालप्रसाद व्यास हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। उनके साहस से ही 'शिक्षण-शिविर' संभव हो सका। शिक्षण-शिविर के बहाने से ही यह पुस्तक प्रस्तुत हुई है। इसके लिए धन जुटाने में भी उन्हें दौड़धूप करनी पड़ी है। साहित्य प्रेस के संचालक श्री महेन्द्रजी ने प्रेस की प्रत्येक सुविधा इस पुस्तक के लिए दी है। हम उनके भी कृतज्ञ हैं।

ब्रज-लोक-संस्कृति

शिक्षण-शिविर की आयोजना

ब्रज-साहित्य-मंडल और पंचवर्षीय योजनाः—कहानी विशेष लम्बी नहीं है। ब्रज-साहित्य-मण्डल शिकोहाबाद अधिवेशन ने एक पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत करने का विचार किया। उसकी एक स्थायी-समिति में वह पंच-वर्षीय योजना गम्भीर विचारोपरान्त स्वीकार की गयी। उस पंचवर्षीय योजना में सबसे पहला प्रस्ताव 'लोक-संस्कृति-शिक्षण-शिविर' का था।

क्यों ? स्थायी समिति में शिक्षण-शिविर के संबंध में कितने ही प्रश्न पूछे गये। इस शिविर से मण्डल को क्या लाभ होगा ? इसमें जो विषय रखे गये हैं उनके व्याख्याता कौन होंगे ? इसमें किस योग्यता के विद्यार्थी लिये जायँगे ? ये व्याख्यान तो ऊँचे साहित्यिक धरातल के होंगे ? इन विषयों की क्या उपयोगिता होगी ? इनके शिक्षण की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार अनेकों प्रश्न पूछे गये। वास्तव में ये प्रश्न और आशंकायें योजना में इस सर्वथा नवीन-विधान के कारण थीं।

सर्वथा नवीन— अभी तक हम लोगों ने सैनिक और बालचर्म के शिविरों को ही देखा और सुना था। राजनीतिक प्रचार और कार्य की शिक्षा के लिए भी शिविर होते रहे हैं। पर सांस्कृतिक और साहित्यिक उद्देश्यों से शिक्षण-शिविरों का आयोजन सर्वथा नवीन उद्योग था। इसी कारण एकानेक संदेह उत्पन्न होते थे।

मूल योजना—मण्डल के पंच-वर्षीय कार्य-क्रम में शिक्षण-शिविर की मूल-योजना का यह रूप था।

प्रथम वर्ष —ग्राम-साहित्य संकलन कर्त्ताओं के लिए शिक्षण-शिविर। यह पंद्रह दिन की अवधि का हो।

१—यह शिविर १५ दिन के लिए होगा।

२—हिन्दी-मिडिल की योग्यता रखने वाला व्यक्ति इसमें सम्मिलित हो सकता है।

३—यह शिविर मथुरा में होगा।

४—शिविर में भोजन-व्यय विद्यार्थियों को स्वयं देना होगा। शिविर का प्रबन्ध और विद्यापीठ का प्रबन्ध मण्डल करेगा।

५—शिविर के निवास-प्रबन्ध तथा शिक्षा प्रबन्ध के लिए दो समितियाँ होंगी—

(अ) निवास-प्रबंध समिति में निम्न सदस्य होंगे—

१—निवास-विभाग सदस्य—यह व्यक्ति स्थान नियत करेगा। विद्यार्थियों को स्थान निश्चित करेगा; उन्हें रहन-सहन सम्बन्धी आवश्यक सामग्री, फर्नीचर वगैरह की सुविधा दिलायेगा।

२—सफाई-विभाग सदस्य—स्थान तथा व्यक्ति की आवश्यक स्वच्छता का प्रबन्ध करायेगा।

३—जल-विभाग सदस्य—विद्यार्थियों तथा शिविर निवासियों के स्नान-पान तथा भोजन आदि के लिए जल का प्रबन्ध करायेगा।

४—प्रकाश-विभाग सदस्य—प्रकाश का प्रबन्ध करायेगा।

५—निवास-अनुशासन सदस्य—यही व्यक्ति निवास का मुख्याधिष्ठाता तथा निवास समिति का संयोजक होगा।

६—भोजन-विभाग-सदस्य—भोजन के प्रबन्ध पर दृष्टि रखेगा।

(आ) शिक्षण-समिति में निम्न सदस्य होंगे। ये सभी शिविर में शिक्षण की उचित व्यवस्था का ध्यान रखेंगे—

१—प्रधानाध्यापक

२—पुस्तक—प्रबन्धक

३—यात्रा—संयोजक

४—कलाकार

५—लेखक

शिक्षण का प्रोग्राम निश्चित करने तथा उसके लिए आवश्यक सामग्री जुटाने का भार इसी समिति पर है। प्रधानाध्यापक इसका संयोजक होगा।

शिक्षण की व्यवस्था में निम्न बातों पर ध्यान दिया जायगा:—

१—निश्चित पाठ्य-क्रम के अनुसार व्याख्यानों का प्रबन्ध कराना।

२—प्रत्येक व्याख्यान के लिए व्याख्यान के दिन आवश्यक पुस्तकें उपलब्ध करना तथा प्रति दिन उपयोग में आने वाली पुस्तकों के एक पुस्तकालय का प्रबन्ध करना। इसके लिए सुझाव यह है कि विशेष उद्योग करके मथुरा म्यूजियम तथा दोनों कालेजों के पुस्तकालयों का सहयोग प्राप्त कर लिया जाय।

३—यात्रा-संयोजक प्रधानाध्यापक से परामर्श कर ऐसी यात्राओं का प्रबन्ध करायेंगे, जिनसे व्याख्यान में ग्राम-संस्कृति से संबंधित बातों का प्रत्यक्ष ज्ञान विद्यार्थियों को कराया जा सके।

४—ऐसी योजनाओं में काम आने वाली वस्तुओं के चित्र तथा मॉडल आदि बनाने का भी काम साथ में होना अच्छा होगा। यह कार्य कलाकार सदस्य करायेगा।

५—एक लेखक सदस्य होगा जो मुद्रित व्याख्यानों के अतिरिक्त जो अन्य प्रश्न कक्षाओं में पूछे जायँगे, उनका उत्तर मण्डल के लिए लिखता चला जायगा। यात्राओं के वर्णन लिखने या लिखाने का प्रबन्ध भी यह सदस्य करेगा।

इस शिविर का पाठ्य-क्रम निम्न लिखित होगा:—

१—ब्रज की भूगोल—जन-तत्व।

२—ब्रज की जातियाँ, नृविज्ञान, Racial elements in Vraja and their characteristic study.

३—ब्रज की कला ग्राम्य तथा नागरिक, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र नृत्य, संगीत।

४—ब्रज की लिपियों का इतिहास-विकास।

५—लोकधर्म, रीति-रिवाज, उत्सव तथा संस्कार।

६—लोकवार्त्ता-अध्ययन तथा संकलन प्रणाली।

७—ब्रज का इतिहास।

८—ब्रज साहित्य का इतिहास।

९—ब्रज संस्कृति का पुनर्निमाण कैसे; कुछ व्यावहारिक परामर्श।

१०—ग्राम-गीत, उनके छन्द तथा वस्तु।

११—ब्रज में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के नियम।

१२—साहित्य और संस्कृति के शोध का महत्व।

ये व्याख्यान लिखित होंगे। प्रश्न और उत्तर के द्वारा विषय को प्रस्तुत किया जायगा। प्रश्न तालिका शिक्षण समिति बना कर भेजेगी, व्याख्याता उसमें उचित संशोधन करके उत्तर देंगे। व्याख्याताओं को व्याख्यान देने के लिए बुलाया जायगा और वे व्याख्यान में विद्यार्थियों के अन्य प्रश्नों का मौखिक उत्तर भी देंगे। प्रत्येक व्याख्याता से यह प्रार्थना भी की जायगी कि वे साथ में उन पुस्तकों की सूची भी देने की कृपा करें, जो इस विषय के लिए विद्यार्थियों के उपयोगी सिद्ध हों; साथ ही वे यह भी उल्लेख करें कि क्या कुछ ऐसे माडल तथा चित्र भी हैं, जिन्हें वे चाहेंगे कि मंडल व्याख्यान के लिए तय्यार कराये या मँगाये। अन्य आवश्यक सामग्री का भी वे उल्लेख कर देने की कृपा करेंगे।

ये व्याख्यान छपाये जायँगे और इनका मूल्य रखा जायगा। इस शिविर में कितने विद्यार्थी सम्मिलित किये जायें, इसका निश्चय स्थायी समिति अथवा प्रचार समिति करेगी। १५ विद्यार्थियों पर ५००) व्यय होने का अनुमान है—२००) के लगभग व्याख्याता महोदयों के सम्मानार्थ। व्याख्याताओं को उनके व्याख्यानों पर मण्डल अपने नियम के अनुसार रायल्टी भी देगा।

इसका उद्घाटन किसी योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति से कराया जायगा।

शिविर की समाप्ति पर एक विशेष उत्सव कराया जायगा जिसमें विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र प्रदान किये जायँगे।

शिविर का शिक्षण के अतिरिक्त कार्य-क्रम बालचरों के कैम्प विधि के अनुसार किया जायगा।

योजना की व्याख्या:—इस योजना की व्याख्या में प्रस्तावक महोदय ने कुछ इस प्रकार स्पष्टीकरण किया था:—

"ब्रज-साहित्य-मंडल के पास दो प्रकार के साहित्यिक कार्य हैं। एक प्राचीन लिखित ग्रन्थों का शोध कराना, उनके अध्ययन को प्रोत्साहन देना। दूसरा: लोक में प्रचलित मौखिक साहित्य का संकलन और अध्ययन। मंडल ने इन दोनों कार्यों को करते हुए पद-पद पर यह अनुभव किया कि यह कार्य सार्वजनिक रूप से करने में अनेकों कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं। शोध का कार्य अभी तक प्रधानतः हिन्दी क्षेत्र में नागरी प्रचारिणी-सभा काशी ने कराया है। उसका यह कार्य उसके द्वारा नियुक्त एजेंटों ने किया है। इस शोध की भी अपनी टेकनीक और वैज्ञानिक विधि है। यह विधि सर्वसाधारण को ज्ञात नहीं। मंडल यह अनुभव करता है कि वह गाँव-गाँव में केन्द्र खोले, और प्रत्येक केन्द्र से उसके ही व्यक्तियों द्वारा यह कार्य कराये। वे यह कार्य कैसे करें? यह प्रश्न उपस्थित हुआ। मौखिक लोक-साहित्य को एकत्र करना और भी टेढ़ी खीर है। क्या एकत्र किया जाय, क्या न किया जाय? किस प्रकार किया जाय? यह लोक-साहित्य लोक-वार्त्ता और लोक-साहित्य से घनिष्ठ रूपेण सम्बन्धित है। बिना लोक-वार्त्ता के लोक-साहित्य को ठीक रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। लोक-साहित्य की जड़ें लोक-जीवन में बड़ी गहरी चली गई हैं।

आज हम गाँवों में और नगरों में रहते हैं, किन्तु हमारे लिये ये गाँव और नगर बन्द पुस्तकें हैं। हम गाँव में रहते हुए भी वहाँ की एक भी बात का मर्म आज नहीं समझ सकते, या पाते। गाँवों के चित्र, गाँव के नृत्य, गाँव के उत्सव और त्यौहार, उनकी बनावट और बसावट, विविध मनुष्यों की आकृतियाँ, उनके मनोरञ्जन सभी संस्कृति के वृहत-ग्रन्थ के शब्द और वाक्य हैं। किन्तु हम उनकी क-ख-ग नहीं पढ़े। ब्रज-साहित्य-मंडल को लोक-सेवा और लोक-अध्ययन के लिए यह कार्य अत्यन्त आवश्यक है कि इनके मर्म को समझने के लिए साधन प्रस्तुत करे।

योजना में सुझाये हुए सभी विषय जन-साधारण के मौलिक अध्ययन से सम्बन्ध रखते हैं फिर भी एक विशेष प्रकार के विद्वत्-वर्ग ही उसके विज्ञान से परिचित है। ब्रज-साहित्य-मंडल लोक-भाषा हिन्दी में इस शिविर द्वारा पहली बार इन विषयों का आरम्भिक विज्ञान प्रस्तुत करेगा। इस शिक्षण से इन विषयों की दक्षता तो अवश्य प्राप्त

नहीं होगी, पर काम चलाऊ ज्ञान अवश्य हो जायगा। इतना ज्ञान हो जायगा कि सीखने वाला लोक-प्रवृत्तियों के प्रति आँखें रहते भी अन्धा नहीं रहेगा। हिन्दी में एक विषय की पूर्ति हो जायगी, और शोध और संकलन के कार्य की टेकनीक को जानने वाले कार्यकर्ता तय्यार हो सकेंगे।

ये सभी भाषण और अध्यापन हिन्दी में होंगे, और यथा सम्भव लाक्षणिक और पारिभाषिक शब्दों को बचाकर दिये जायँगे। अतएव साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इनसे लाभ उठा सकेगा।

इस योजना को कार्य रूप में परिणत करते समय जो विस्तृत रूप होगा, उसमें इस बात का ध्यान रखा जायगा कि प्रत्येक विषय ठीक-ठीक हृदयंगम कराया जा सके। इस निमित्त इस योजना में कई उपाय रखे गये हैं।

मूर्ति-प्रस्तुतियाँ—१ प्रत्येक व्याख्यान के सम्बन्ध में यह चेष्टा की जायगी कि अधिक से अधिक चित्र, फलक, मूर्ति, अथवा वस्तुओं का साक्षात्कार कराया जा सके। इनको प्रस्तुत करते समय प्रत्येक व्याख्यान के आरम्भ में कलाकार इनके मर्म को प्रकट करेगा और विद्यार्थियों को उनका परिचय देगा।

पूर्व पीठिका—२ व्याख्यान से पूर्व आचार्य उस व्याख्यान का मूल अभिप्राय और व्याख्याता का परिचय करा देगा।

प्रश्न-निर्णय—३ व्याख्यान के पश्चात् शंकाओं को प्रश्न के रूप में आचार्य की सहायता से लिख लिया जायगा। ये प्रश्न भाषणकर्ता के पास पहुँचा दिये जायँगे।

पुस्तकावलोकन—४ उसी विषय पर उस दिन वे पुस्तकें पुस्तकालय में रखदी जायँगी जो उस विषय से सम्बन्धित होंगी। उन्हें विद्यार्थी पढ़ेंगे।

रात्रि-गोष्ठी- ५ रात की गोष्ठी में लोक-अभिव्यक्तियों का प्रदर्शन होगा। इन विधियों से विषय का पूर्ण अध्ययन कराने का यत्न किया जायगा। इस स्पष्टीकरण से 'शिविर' के रूप को समझने में सभी को सहायता मिली। स्थायी समिति ने योजना स्वीकार करली और इस दिशा में कार्य आरम्भ कर दिया गया।

प्रोत्साहन - इस योजना का सभी ने बड़े उत्साह से स्वागत किया। सबसे पहले ख्यातनामा पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने कुछ पंक्तियों में ही किन्तु बड़ी सारगर्भिता से उस योजना की प्रशंसा की। महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह ने सीतामऊ से एक विस्तृत पत्र भेजा। उसमें ये पंक्तियाँ विशेष द्रष्टव्य थीं—

"ब्रज की भारत को सबसे बड़ी देन है भारतीय साहित्य की काव्य की भाषा, पिंगल या ब्रज बोली। सुदूर कच्छ में अब भी पिंगल काव्य रचना का एक स्कूल है जहाँ बारहठ, चारण, आदि ब्रजभाषा में कविता करना सीखते हैं। 'ब्रजभाषा' की यह साहित्यिक विजय इतनी विस्तृत एवं सम्पूर्ण थी कि अभी तक इसका पूरा-पूरा स्वरूप न तो पाया ही जा सका है और न इस सम्बन्ध में कोई प्रयत्न ही किए गए। आज पुनर्जाग्रत भारत में इसकी ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है। सुसंगठित एवं सुजाग्रत ब्रजभूमि ही भारत की इस विगत महत्ता को ठीक-ठीक आंकने का प्रयत्न कर सकती है। ब्रजभाषा का भारतीय भाषाओं के इतिहास एवं हिन्दी-साहित्यिक विवरण में ठीक-ठीक स्थान तभी निश्चित किया जा सकेगा।

ब्रज-मंडल की सांस्कृतिक सीमाएँ निश्चित करते समय आस-पास के राज्यों को न भूलें। भरतपुर नरेश यों ही 'ब्रजेन्द्र' नहीं कहला सकते; उनका राज्य भी इसी सांस्कृतिक इकाई में आवेगा। इसी प्रकार अन्य भागों की भी नाप तोल कर अन्तिम रूप-रेखा निश्चित करनी होगी।

ब्रज-मण्डल की पञ्चवर्षीय योजना बहुत ही मनोरञ्जक और उपयोगी वस्तु है। बहुत ही साहसपूर्ण तथा Ambitious आयोजन है। मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि वह इस आयोजन को पूरा करने में आप से सोत्साही पुरुषों को बल और सहायता दे। हम भारतीय प्रायः आरम्भ-शूर ही होते हैं। काम प्रारम्भ कर देना कठिन नहीं। उसे निबाहना और सफलतापूर्वक पूरा करना विरलों का ही काम होता है।" इसी स्थान पर लोक-वार्त्ता परिषद् टीकमगढ़ के मंत्री तथा 'लोकवार्त्ता' पत्र के सम्पादक श्रीकृष्णानन्द गुप्त का एक उत्साह-बर्द्धक पत्र यहाँ पूरा उद्धृत किया जाता है:—

ता० १२-१२-४६

प्रिय श्री सत्येन्द्रजी !

आपका ता० २२-११-४६ का कृपा कार्ड मिला। मैं बाहर था। अभी लौटा हूँ। इसी से उत्तर में विलम्ब हुआ। क्षमा कीजियेगा।

आपका प्रस्ताव तो बड़ा ही उत्तम है। उसमें आप जैसा चाहें वैसा सहर्ष मेरा उपयोग कर सकते हैं। सम्भवतः मैंने लिखा था कि इस प्रकार की एक प्रदर्शिका में लिखना चाहता हूँ कि जिससे इस विषय के प्रेमियों और कार्यकर्त्ताओं को कुछ सहायता मिले। उधर भोजपुरी के क्षेत्र में भी कुछ इसी प्रकार के कार्य की योजना चल रही है, और वे लोग मुझ से कुछ सूचनायें चाहते हैं। इसलिए अगर किताब लिख सका तो वह बहुत सामयिक और उपयोगी होगी।

छोटे व्याख्यान से तो काम नहीं चलेगा। आप शिविर कब तक कर रहे हैं। जनवरी तक शायद मैं आपके लिए व्याख्यान की जगह एक व्याख्यान माला तैयार कर सकूँ। उस वक्त ही शिविर रखिए। तब तक पूरी तैयारी और आपका प्रचार भी हो जायेगा।

इस सम्बन्ध में एक सुझाव आपके सामने रखना चाहता हूँ। उचित समझें तो उस पर विचार करें। शायद आपको मालूम होगा कि पुरातत्त्व-विभाग की तरह भारत सरकार ने हाल ही में Anthropological survey के नाम से एक स्वतन्त्र विभाग की स्थापना की है। डा० बैरियर एलविन जो कि मुझ पर विशेष कृपा रखते हैं उसके डिप्टी डाइरैक्टर नियुक्त हुए हैं। वे हमारी लोक वार्त्ता परिषद् के सभापति भी हैं। अतः परिषद के सहयोग में आप यह काम करना पसन्द करें तो सम्भवतः एक दिन के लिए मैं उन्हें आगरा या मथुरा आने के लिए प्रेरित कर सकूँगा। मगर उनके आने के संबन्ध में मैं अभी कुछ नहीं कह सकूँगा। वे अभी बाहर दूर पर उड़ीसा की तरफ गये हैं। १५ जनवरी के बाद लौटेंगे। हमारा और आपका काम एक ही है। उनको यदि हम बुला सके तो प्रचार में बड़ी मदद मिलेगी।

एलविन साहब को बुलाने के उद्देश्य से ही मैंने यह बात आपके सामने रखी है और परिषद की तरफ से यदि कुछ कार्य आप संयोजित कर सकें तो उन्हें बुलाने का अधिकार मुझे स्वतः प्राप्त है।

इसमें अगर किसी तरह के मेरे सहयोग की जरूरत हो तो मैं निस्सन्देह तैयार रहूँगा आप इस प्रस्ताव को किसी और रूप में न लें। आशा है आप सानन्द हैं।

आपका—कृष्णानन्द

फीरोजाबाद अधिवेशन पर—शिक्षण शिविर की योजना डा० रामप्रसाद त्रिपाठी एम० ए०, डी०एस-सी० के सभापतित्व में स्वीकार की गयी थी। उस समय श्री सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव एम०ए०, एल०टी० सब-डिप्टी इन्स्पैक्टर आव स्कूल्स मथुरा इसके प्रधान मन्त्री थे। इनके कार्यकाल में योजना की विधिवत् स्थायी समिति से स्वीकृति लेते लेते प्रायः वर्ष समाप्त हो गया। फलतः फीरोजाबाद अधिवेशन से इस योजना को पूरी गति मिली। इस वर्ष के सभापति पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने अपने सभापति पद से भाषण देते हुए इन योजनाओं के सम्बन्ध में ये शब्द कहे थेः—

तृतीय वार्षिक अधिवेशन शिकोहाबाद के अवसर पर प्रकाशित ब्रज साहित्य मण्डल के पंच वार्षिक विवरण को पढ़ कर ही मण्डल के कार्यकर्ताओं के प्रति हृदय हर्ष और स्नेह से भर जाता है। ब्रज साहित्य मण्डल की पंच वर्षीय योजना के अनुसार इस वर्ष जो काम हुआ वह तो और भी अधिक प्रशंसनीय है।

इस पंचवर्षीय--योजना को और भी विस्तृत और परिवर्द्धित करके इसे तथा इसमें प्रस्तावित शिक्षण-शिविर को भारत की सभ्यता और संस्कृति, ब्रज की सभ्यता और संस्कृति अथवा ब्रज की सभ्यता और संस्कृति के पुनः संजीवन का सफल साधन बनाया जा सकता है। वह भारत भर के लिए ग्राम गुरुकुल का काम कर सकता है। कम से कम संयुक्त प्रान्त के पश्चिमी ग्रामों का एक ग्राम-विश्व-विद्यालय तो बन ही सकता है। मैं उन लोगों में से हूँ जो ब्रज के साहित्य और उसकी संस्कृति को गांवों का साहित्य और गाँवों की सभ्यता तथा संस्कृति समझता हूँ और गांवों की सभ्यता तथा संस्कृति को भारत की वास्तविक सभ्यता तथा संस्कृति मानता हूँ।

महात्मा गांधी के साथ--साथ मेरा भी यह विश्वास है कि मानव को सत्य-शांति-सुख आदि पश्चिम में नहीं मिलेंगे—पूरब में

मिलेंगे। महात्माजी के शब्दों में यीशु का धर्म भी जो पूरब में ही पैदा हुआ था पश्चिम में जाकर तो वह भी विकृत ही हुआ। स्वैंगलर ओसवाल्ड का कहना है कि पश्चिम का समाजवाद-साम्यवाद और मार्क्सवाद का भी मूलाधार यह भाव है कि 'आई समझ में कि लाऊँ लट्ठ ?' सोवियट रूस भी मार्क्सवाद की शिक्षा हवाई जहाजों और टैंकों से देता है और अब ऐटमबम से देने की तैयारी कर रहा है। केवल सेवा, तर्क, विवेक और उपदेश द्वारा मानव-हृदय को सुसंस्कृत और परिवर्त्तन करने का काम तो संसार के इतिहास में अकेले भारत ने ही किया था—आज से दो हजार बरस पहले। और किया था इतनी सफलता के साथ कि वह श्याम, मलाया, अफगानिस्तान, चीन, जापान इत्यादि देशों में चारों तरफ फैला। महात्माजी की यह बात तो मेरे जीवन का मूल मन्त्र है कि पूरब में भारत में भी सत्य और धर्म, सुख और शांति, सभ्यता और संस्कृति हमें गांवों में ही मिलेगी शहरों में नहीं। ब्रज का साहित्य और ब्रज की सभ्यता तथा उसकी संस्कृति गाँवों की सभ्यता और संस्कृति है। इन्द्र और गोवर्धन दोनों ही मुख्यतः गांवों के देवता हैं। यदि संसार में कभी वसुधैव कुटुम्बकम् का स्वप्न पूरा होना है, विश्व-संघ और एक संसार की तथा स्थायी शाँति, वास्तविक लोकतन्त्र सच्ची स्वाधीनता की स्थापना होनी है तो वह गांवों की सभ्यता और संस्कृति से ही होनी है।

इस दृष्टि से आप भी ब्रज-साहित्य-मण्डल का काम करके केवल ब्रज की ही नहीं समस्त देश की और अखिल विश्व की सेवा कर रहे हैं। आप ब्रज के साहित्य और उसकी संस्कृति की रक्षा के प्रयत्न में अनजाने ही भारत की सभ्यता और उसकी संस्कृति की रक्षा कर रहे हैं और याद रखिये कि ऐसे समय में जब भारत राजनीतिक स्वाधीनता के समीप जा पहुँचा है उसकी मुख्य समस्या राजनीतिक स्वाधीनता के बाद केवल आर्थिक स्वाधीनता की ही नहीं साँस्कृतिक स्वाधीनता की भी है। भारत का पेट ही नहीं खाली उसकी आत्मा भी भूखी है।

× × × ×

हमारा शिक्षण-शिविर केवल ग्राम-साहित्य-संकलनकर्ताओं के

लिए ही न हो, बल्कि वह ब्रज-साहित्य, ब्रज-सभ्यता और ब्रज संस्कृति अथवा ग्राम-साहित्य, ग्राम-सभ्यता और ग्राम संस्कृति का पुनरुज्जीवन करने वाले पूर्णतया शिक्षित कार्य-कर्त्ताओं की शिक्षा का ऐसा केन्द्र हो जहाँ से निकल करके कार्य-कर्ता भारत के आठ लाख उजड़े हुए गाँवों को फिर से सुख और प्रकाश का केन्द्र अथवा सभ्यता और संस्कृति का स्रोत बना सकें। यह केवल शिक्षण-शिविर ग्राम-विश्वविद्यालय अथवा ग्राम गुरुकुल हो और जिसमें नियमित शिक्षा के अतिरिक्त युद्धकालीन शिक्षाओं ग्रामादि की शिक्षाओं तथा कुछ महीने कार्य द्वारा शिक्षण तथा कुछ महीने सिद्धान्त आदि की शिक्षा का भी प्रबंध हो।

गांवों को जीवन के रूप के संबन्ध में, उनके जीवन की उपजों के अभियन्त्रीकरण के संबन्ध में, गांवों के मेलों तथा विविध उत्सव व्यवहारादि को अधिक सजीव सरस और शिक्षा-प्रद तथा उपयोगी बनाने के संबन्ध में विचार हो।

गाँवों में प्रचलित अनेक संस्थाओं आदि का सदुपयोग करके हम फिर से गाँव के जीवन को आदर्श बना सकते हैं। दिवाली सफाई का, हरियाली तीजों को वृक्ष फूलादि लगाने का, सलूनों को टूर्नामेंटों का, होली को पारस्परिक मेल का तथा कुश्ती आदि द्वारा शारीरिक उन्नति का सबल तथा कारगर साधन बनाया जा सकता है। ग्राम-गीत और गाँवों के गायक सफल प्रचार के सबल साधन बन सकते हैं। रासों को जन-वाद्य का रूप दिया जा सकता है। इस थोड़े से संकेत मात्र से ही आप इस बात की कल्पना भली-भांति कर सकते हैं कि ब्रज-साहित्य-मण्डल के सामने कार्य का कितना विशाल क्षेत्र पड़ा हुआ है? और वर्तमान समय में जब देश स्वाधीनता के समीप पहुँच रहा है तथा निकट भविष्य में ही उसके पूर्णतया स्वाधीन होने की पूर्ण आशा है तब इन सब कार्यों के लिए आवश्यक साधनों की भी कमी नहीं रहेगी।

अपना लक्ष्य ऊचा रखिये, अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक उदार बनाइये तो आप देखेंगे कि जनता और सरकार दोनों ही सहर्ष सब तरह आपकी सहायता करेगी।

मण्डल का कार्य इन वर्षों में इतनी गति और वेग से चला,

उसके कार्य-कर्त्ताओं को प्रणाली का कुछ ऐसा रूप रहा कि उसकी धूम भी पर्याप्त हुई ।। इससे और भी अधिक उसे कार्य करने की माँग होने लगी । नये चुनाव में प्रधान-मन्त्रित्व श्री गोपालप्रसाद व्यास को सौंपा गया । व्यासजी ठोस कार्य के लिए संकल्पवद्ध थे । उनका निश्चय था कि इस वर्ष शिक्षण-शिविर होकर ही रहेगा । इस शिविर की विवरण-पत्रिका पहले ही तैयार हो चुकी थी । उसे अब प्रकाशित कर दिया गया और विद्यार्थियों के प्रवेश की तैयारियाँ होने लगीं । इस विस्तृत विवरण-पत्रिका में वैसे भी कुछ बातें उद्धृत करने योग्य हैं । इनसे इस शिविर के कार्य-संचालन पर प्रकाश पड़ेगा ।

शिविर के उद्देश्य ।

१—यह शिविर मण्डल की पंचवर्षीय योजना का प्रथम और प्रधान अङ्ग है । उसमें स्पष्ट निर्देश है कि ब्रज-संस्कृति और साहित्य के संकलन और अध्ययन का कार्य उस समय तक विधिवत् नहीं हो सकता जब तक कि कार्यकर्त्ताओं को इस प्रकार के कार्य की वैज्ञानिक शिक्षा न दी जाय ।

२—अब तक शोध का कार्य सार्वजनिक दृष्टिकोण से नहीं हुआ, न जनसाधारण ने उसमें कोई भाग ही लिया था । फलतः ग्राम-संस्कृति अभी तक अंधकार में पड़ी हुई है । उसको समझने वाले बहुत कम हैं । मण्डल का यह एक बिल्कुल नया प्रयोग है । इस शिक्षण शिविर के द्वारा वह संस्कृति और साहित्य के ज्ञान और शोध की वैज्ञानिक प्रणाली को साधारण जन सुलभ बना देना चाहता है । इस शिविर में शिक्षा पाने वाले व्यक्तियों के लिए ग्राम का कण-कण बोलने लगेगा ।

३—ग्रामों के पुनर्निर्माण का यह युग है । इस पुनर्निर्माण में ग्रामों के सांस्कृतिक उत्थान पर ही ग्राम जीवन का सुख निर्भर करता है । उसे जबतक भली प्रकार न समझ लिया जायगा, तब तक उसके उत्थान में सहयोग कैसे दिया जा सकता है । यह शिविर उसी सांस्कृतिक उत्थान के लिए उद्योग करेगा ।

इसके अनन्तर विविध नियमोपनियमों का तथा शेष व्यवस्था का उल्लेख किया गया था ।

शिविर में प्रवेश

१—शिविर में कोई भी व्यक्ति शिक्षा पाने के लिए दाखिल हो सकता है, पर:—

२—उसकी योग्यता कम से कम हिन्दी मिडिल की होनी आवश्यक है।

३—यह आवश्यक है कि वह अपना आवेदन पत्र भेज कर प्रधान अध्यापक से स्वीकृति प्राप्त करलें।

शिविर में निवास

१—शिविर के प्रत्येक विद्यार्थी को शिविर में ही निवास करना होगा। विशेष दशा में प्रधानाध्यापक को अधिकार है कि इस नियम के रहते हुए भी वह कुछ को बिना शिविर में निवास किए ही शिक्षा में भाग लेने की अनुमति दे दें।

२—शिविर में निवास करने वाले शिक्षार्थियों को शिविर नियमों का शान्ति से पालन करना पड़ेगा।

३—शिविर के प्रधान नियम यह हैं—

(अ) कोई भी शिविर का सदस्य निवास के मुख्याधिष्ठाता आज्ञा बिना शिविर छोड़ कर नहीं जा सकेगा।

(आ) शिविर का कोई भी निवासी अपने पास धन या आभूषण बिना मुख्याधिष्ठाता की आज्ञा के नहीं रख सकेगा। सब से अच्छा यह होगा कि ऐसी वस्तुएँ मुख्याधिष्ठाता के पास जमा करा दी जायें।

(इ) शिविर का कार्य-क्रम एक बोर्ड पर लगा दिया जाता रहेगा। सारा कार्य उसी के अनुसार होगा। उसमें कोई ढिलाई नहीं की जायगी। प्रत्येक कार्य ठीक समय पर आरम्भ हुआ करेगा।

(ई) प्रत्येक कार्य में प्रत्येक सदस्य को भाग लेना होगा।

(उ) चित्त की साधारण से साधारण अस्वस्थता की सूचना तुरन्त मुख्याधिष्ठाता को दी जानी चाहिए।

(ऊ) शिविर का साधारणतः यह कार्यक्रम रहेगा:—

प्रातः—४–३० जागरण, शौचादि
५–० व्यायाम–सामूहिक प्रार्थना
५–२० विराम
५–३० स्नानादि
५–५० विद्यापीठ प्रस्थान की तैयारी, कलेवा
६–० विद्यापीठ-अध्ययन
११–० विराम
११–१५ भोजन
१२–० विश्राम
१–० निज-व्यवस्था
१–३० स्वाध्याय, नोट्स लिखना
३–० पुस्तकालय, कला-भवन
४–० विद्यापीठ
५–३० खेलकूद
६–१५ स्नान
६–३० भोजन
७–१० टहलना
८–० गोष्ठी–मनोरंजन तथा चर्चा
६–४५ विशेष सूचनाएँ
१०– शयन

इस कार्यक्रम में जो परिवर्तन हुआ करेगा वह यथा समय बता दिया जाया करेगा।

(ए) शिविर में ही औषधालय, पुस्तकालय, वाचनालय आदि रहेंगे।

(ऐ) निवास में भोजन शुल्क का अनुमान २०) प्रति व्यक्ति है। यह रुपया आवेदन-पत्र के साथ भेज देना होगा ।

विद्यापीठ।

५—शिविर में शिक्षा व्यवस्था प्रधानाध्यापक की देख रेख में होगी।

६—शिविर का यह क्रम रहेगा।

(अ) ६ बजे सभी विद्यार्थी एकत्रित हो जायेंगे। कलाकार उस व्याख्यान सम्बन्धी वस्तुएँ क्रमशः यथा स्थान जमायेगा

और प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करता जायगा।

(आ) ६–४५ पर प्रधानाध्यापक विषय का संक्षिप्त परिचय देगा और व्याख्याता का परिचय देगा।

(इ) ७—मुख्य व्याख्यान।

(ई) १०–प्रधानाध्यापक के साथ विषय पर विद्यार्थियों का विचार विमर्श। शंकाओं का प्रश्न रूप में निश्चित करना। [ये प्रश्न व्याख्याता महोदय के पास भेज दिये जायेंगे।]

(उ) १–३० से ४ तक स्वाध्याय तथा पुस्तकालय उपयोग प्रधानोध्यापक, पुस्तक प्रबन्धक तथा कलाकार के निरीक्षणार्थ होगा।

(ऊ) ४–५. ३० तक व्याख्याता महोदय शंकाओं का निवारण करेंगे।

७—ये व्याख्यान पहले से तय्यार होकर आ जायेंगे। प्रश्नों के उत्तरों को लिखने के लिए एक शीघ्र लिपि जानने वाला रहेगा, जो व्याख्याता के प्रत्येक उत्तर को लिखेगा। ये उत्तर भी मूल व्याख्यान के परिशिष्ट की भाँति छपवा दिए जायेंगे।

८—यह उद्योग किया जायगा कि व्याख्यान पहले से मुद्रित रहे। जो विद्यार्थी व्याख्यान लेना चाहेंगे, उन्हें मूल्य देकर वे व्याख्यान मंडल से मिल सकेंगे।

६—शिविर में पन्द्रह दिन के लिए निम्नलिखित प्रोग्राम निश्चित किया गया है। यह ता० ७ सितम्बर सन् ४७ से आरम्भ होगा।

कार्य-क्रम।

प्रथम दिवस–१. उद्घाटन।
२. नृतत्व (व्याख्यान)

द्वितीय दिवस–प्रधान व्याख्यान विषय—'जनपदीय अध्ययन की आँखें

तृतीय दिवस–विषय-ब्रज की कला (ग्राम तथा नागरिक) स्थापत्य मूर्ति, चित्र, नृत्य, सङ्गीतादि।

चतुर्थ दिवस–विषय–ब्रज का इतिहास।

पंचम दिवस–विषय–ब्रज साहित्य का इतिहास।

छठवां दिवस–विषय–ब्रज में हस्तलिखित ग्रन्थों की शोध के नियम।

सातवाँ दिवस–विषय–ब्रज का मानव-विज्ञान।
आठवाँ दिवस–विषय–लोक वार्ता उसका महत्व, अध्ययन तथा संकलन (ब्रज को ध्यान में रखकर)।
नवम् दिवस–विषय–लोक धर्म, रीति रिवाज उत्सव तथा संस्कार।
दसवाँ दिवस–विषय–ग्राम गीत, छन्द तथा वस्तु ?
ग्यारहवाँ दिवस–ग्राम यात्रा।
बारहवाँ दिवस–विषय–ब्रजभाषा और ब्रज में लिपियों का विकास।
तेहरवाँ दिवस–यात्रा।
चौदहवाँ दिवस–विषय–ब्रज की संस्कृति का पुनर्निर्माण (मानवेतर भाग)।
पन्द्रहवाँ दिवस–विषय–ब्रज संस्कृति का पुनर्निर्माण (मानव-सम्बन्धी)
सोलहवाँ दिवस–विषय–साहित्य और संस्कृति के शोध का महत्व तथा दीक्षान्त संस्कार।

१०—दो यात्राओं का प्रबन्ध किया जायगा। ये प्रबन्ध प्रधानाध्यापक के परामर्श से होगा।

११—दीक्षान्त के समय शिविर-शिक्षार्थी को मण्डल की ओर से प्रमाण-पत्र प्रदान किया जायगा।

व्याख्यानदाता—सभी विषयों के लिए विविध विद्वानों से पत्र-व्यवहार हुआ। प्रायः सभी विद्वानों ने इस कार्य की सराहना करते हुए भाषण देना स्वीकार किया। उन विद्वानों की लिखित स्वीकृति आने पर विषयों के अनुसार यह कार्य-क्रम रहा।

१—जनपदीय अध्ययन की आँख—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, डी० लिट्, सुपरिंटैंडैंट म्यूजियम्स, दिल्ली।

२—ब्रज की कला—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी एम० ए० क्यूरेटर, मथुरा। म्यूजियम, मथुरा।

३—श्री मदनमोहन नागर एम० ए० क्यूरेटर प्राविंशियल म्यूजियम, लखनऊ।

४—ब्रज-साहित्य का इतिहास—श्री० प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए०, प्रोफेसर अँग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

५—ब्रज में हस्तलिखित ग्रन्थों की शोध के नियम—श्री० भास्कर

रामचन्द्र भालेराव, नायब सूबा, मुरैना (ग्वालियर)

६—मानव-विज्ञान—श्री कृष्णानन्द गुप्त, संपादक—लोकवार्त्ता, टीकमगढ़।

७—ब्रज के लोक-गीत—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, लोक-गीत-संग्रह-विशेषज्ञ।

८—लोक गीतों के छन्द कथा वस्तु—श्री रामइकबालसिंह राकेश भदैनी (विहार)

९—ब्रज में ऐतिहासिक लिपियों का विकास—श्री कृष्णाचार्य एम० ए० साहित्य-रत्न, काशी।

१०—हस्तलिखित ग्रन्थों की लिपियों का विकास—श्री उमाशंकर शुक्ल हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

११—ब्रज की संस्कृति का पुनःनिर्माण (मानवेतर भाग)—पं० श्रीराम-शर्मा, सम्पादक—विशाल भारत, कलकत्ता।

१२—ब्रज की संस्कृति का पुनःनिर्माण (मानव-संबंधी)—बाबू गुलाब-राय एम० ए०, संपादक—साहित्य सन्देश, आगरा।

इस प्रकार विद्यापीठ की पूरी तैयारी हो गई।

विविध जिला बोर्डों को लिखा गया कि वे पाँच-पाँच विद्यार्थी इस शिविर में भाग लेने के लिए भेजें। इसमें निम्न लिखित विद्यार्थी विविध बोर्डों और क्षेत्रों से इस शिविर में सम्मिलित हुए।

आगरा	१ ग्यासीराम शर्मा	मिढ़ाकुर
	२ कन्हैयालाल सारस्वत	अछनेरा
	३ श्यामलाल	नामनेर
	४ गङ्गाधर जैन	मिढ़ाकुर
इटावा	१ दर्शनसिंह	लखना
	२ रामनाथ	एकदिल
	३ बाबूलाल शर्मा	भरथना
	४ रघुवरदयाल मिश्र	इटावा
मथुरा	१ शिवलाल शर्मा	कोसीकलाँ
	२ चिरंजीलाल शर्मा	बरचावली
	३ शिवचरनलाल शर्मा	नौहझील
	४ साँवलसिंह अशोक	राया
	५ पातीराम	अकबरपुर

६ रामस्वरूप शर्मा	सुरीर
७ गौरीशङ्कर	बरसाना
८ पुरुषोत्तमलाल	बरसाना
९ प्रभुदयाल गोस्वामी	नन्दगाँव

अब कुछ अन्तिम निर्णय और करने थे। किस स्थान पर हो। कौन उद्‌घाटन करे ? कौन दीक्षान्त भाषण दे ?

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रबन्ध हुए:—

स्थान—गीतामन्दिर, मथुरा।

उद्‌घाटन—खाद्य-मन्त्री—डा० राजेन्द्र प्रसाद, सभापति विधानपरिषद् तथा केन्द्रीय सरकार।

दीक्षान्त—श्री सम्पूर्णानन्दजी शिक्षा-मन्त्री, युक्तप्रान्त।

यथासमय गीतामन्दिर में शिक्षण-शिविर का कार्यालय स्थापित हो गया, तथा सभी विद्यार्थी अपने अपने स्थानों से आगये। ता० ७ भी आगयी। मण्डल ने उद्‌घाटन की भी विशद तैयारियाँ कर डालीं। विशाल पंडाल बन गया।

स्वागत समिति—शिक्षण-शिविर के उत्सवों और अतिथियों का स्वागत-सत्कार करने के निमित्त एक स्वागत समिति बना दी गई थी। इसका निर्माण इस प्रकार था।

१—श्री शाह गौड़शरण, वृन्दावन, स्वागताध्यक्ष।
२—श्री दानबिहारीलाल शर्मा वृन्दावन, स्वागतमन्त्री।
३—श्री शर्मनलाल अग्रवाल, सा० स्वागतमन्त्री।
४—श्री रामप्रसाद पोद्दार दिल्ली, स्वागताध्यक्ष दीक्षान्त-संस्कारोत्सव।
५—श्री सत्येन्द्रजी
६—श्री सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव।
७—श्री प्रभूदयाल मीतल।
८—श्री रामनारायन अग्रवाल।
९—श्री लज्जाराम ललाम।
१०—वाजपेयी।

विद्यापीठ और शिविर के कार्यकर्त्ता—शिविर और विद्यापीठ के कार्यकर्त्ता इस प्रकार नियुक्त किये गये।

आचार्य विद्यापीठ—श्री सत्येन्द्र एम० ए० ।

शिविर अधिष्ठाता—श्री शर्मनलाल एम० ए०, एल० एल० बी०, साहित्य-रत्न ।

अतिथि-विभाग —श्री रामनारायण अग्रवाल साहित्यरत्न, हिन्दी प्रभाकर ।

यात्रा-संयोजक —श्री सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव एम० ए०, एल० टी०

साहित्य-निवेदक —श्री कृष्णदत्त वाजपेयी एम० ए० ।

एक महान दुर्घटना सब तैयारियाँ हो चुकी थीं। सभी उत्सुकता से दिल्ली से देशरत्न डा० राजेन्द्रबाबू के आने की बाट जोह रहे थे कि समाचार मिला कि दिल्ली में भीषण साम्प्रदायिक दङ्गा उठ खड़ा हुआ है। सारे देश की परिस्थिति एकदम बदल गयी। इस क्षण पर जिस बात की आशंका नहीं थी वह हो गयी और 'शिविर' के कार्य-क्रम में बड़ा व्याघात पहुँचा । ट्रेनों से यात्रा करना कठिन हो गया। जीवन का भय घिर आया। सब दिशाओं से सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

फिर भी मण्डल ने साहस पूर्वक शिविर के कार्य को व्यवस्था और योग्यता से सम्पादित कर ही डाला। आये हुए विद्यार्थियों को लौटा देने की बात कभी ग्राह्य नहीं हो सकती थी।

जिस रूप में और जिस प्रकार यह कार्य सम्पादित हुआ, वह आगे प्रति दिन के विवरण से ज्ञात होगा। आगे के विवरण में विद्यार्थियों को दिये गये भाषण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

एक बात और। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का जिज्ञासुदलों में विभाजित कर दिया गया था। उन्होंने कुछ कार्य किया, उसका भी संक्षिप्त विवरण इसमें दिया जा रहा है।

आगे के विवरण में यह क्रम है:—

१—आचार्य द्वारा पूर्व-पीठिका ।

२—व्याख्यान ।

३—गोष्ठी ।

४—प्रकृति अध्ययन ।

५—यात्रा-विवरण ।

इस विवरण में विद्वत्-समाज तथा साधारणजन सभी के योग्य सामग्री मिलेगी। शिविर से केवल उसमें सम्मिलित होने वाले विद्यार्थी ही लाभ उठा सके थे, इस प्रकाशन से सभी लाभान्वित होंगे ऐसा विश्वास है।

सात सितम्बर

ब्रज-संस्कृति और शिक्षण-शिविर

[स्वागताध्यक्ष शाह श्री गौरशरण गुप्त बी० ए०, एल० एल० बी० एडवोकेट का स्वागत-भाषण। ता० ७ सितम्बर १९४७ को शिविर के उद्घाटन-उत्सव पर दिये जाने के लिए लिखा हुआ भाषण]

❀ श्री हरिः ❀

श्रद्धेय सभापति जी, सज्जनो और देवियो !

भगवान कृष्ण की इस पुण्य क्रीड़ास्थली ब्रजभूमि में, जिसके करील कुञ्जों में आज भी भक्तजन 'मैया मैया टेर कर' 'गैयों को बुलाते' हुए गोपाल कृष्ण का दर्शन करते हैं, मैं आप सबका विनम्र भाव से स्वागत करते हुए अपने को कृतकृत्य मानता हूँ। आतिथ्य और शिष्टाचार की ब्रजभूमि में और ब्रजवासियों से—जहाँ काँटेदार कुञ्ज, खारी-जल, बोलने में गारी अनायास ही मिलती हैं, अपेक्षा न करना ही उचित होगा—फिर भी आडम्बरहीन बनवासियों की प्रेमाञ्जलि-स्वरूप खुले हृदय का हमारा यह अबोध-स्वागत आप कृपाकर स्वीकार करेंगे, ऐसी मुझे आशा है।

सज्जनो ! भारतीय संस्कृति के इस प्राचीनतम केन्द्र का ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्व वर्णन करने में मैं आपके अमूल्य समय का असामयिक उपयोग करने की चेष्टा नहीं करना चाहता। हमारे पुराण, शास्त्र तथा श्रीमद्भागवत् जैसे महान् धार्मिक-ग्रन्थ इसके गुणानुवाद के अथाह सागर हैं, जिसका पार पाना असाध्य जानकर बड़े विद्वानों ने भी उनमें जी भर कर गोते लगा लेने में ही अपने जन्म की सफलता निहित मानी है। पुण्य सलिला गङ्गा और यमुना के इसी अंक में अनादि काल से उस भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति, भारतीय कला और स्वयं भारतीयता का जन्म और सूत्र-संचालन होता आया है। जिसके गौरव को कभी सम्पूर्ण विश्व ने

नतमस्तक होकर स्वीकार किया और जिस के शिष्यत्व से गौरवान्वित होकर अन्य देशों को सभ्यता और मनुष्यता का पाठ पढ़ाया।

किसी भी देश को जीवित, स्वथ्य और अमर रखना साहित्य का काम है। साहित्य समाज को मानसिक भोजन देता है। नैतिक दृष्टि से उसे पुष्ट बनाता है, संकट के समय अपनी रक्षा करने की सामर्थ्य देता है, उन्नति के मार्गों का निर्देश करता है और सब प्रकार से समाज को सफल, सबल, समर्थ और सुसम्पन्न बनाता है। समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये साहित्य का सृजन एवं संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है। अतः साहित्यिक संस्थाओं का जो साहित्य के सृजन और संरक्षण का कार्य करती हैं अथवा उन कार्यों में सहयोग या सहायता देती हैं, उनका समाज में अपना विशिष्ट स्थान है, विशिष्ट महत्व है। इस दृष्टि से हमारे ब्रज साहित्य मण्डल के सामने समाज के उत्थान का, उसकी सेवा का और उसकी उन्नति का जो गुरुतर कार्य है वह महान् होने के साथ साथ इतना विस्तृत भी है कि बालक से लेकर बूढ़े तक, विद्वान से लेकर अपढ़ मजदूर तक, राजा से लेकर रंक तक सब की सेवाएं उसमें खप सकती हैं और फिर भी कार्य बचा रह सकता है।

भारतीय साहित्य में ब्रजभाषा का साहित्य भारतीय खजाने के अमूल्यतम रत्नों की वह पिटारी है जिसका मूल्य आंकना तो दूर रहा—समझना भी, संसार के साहित्यिक पारखियों के लिये अभी टेढ़ी खीर बना हुआ है। विद्यापति से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक के लेखकों, कवियों, गायकों और नाट्यकारों पर आज तक न जाने कितने साहित्य की शोध करनेवालों ने डाक्टरेट प्राप्त करली हैं—फिर भी वे अमर साहित्यकार साहित्य के विद्यार्थियों के लिये ब्रह्म के रूप की तरह अभी तक रहस्य ही बने हुए हैं। सूर के एक एक पद पर ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं फिर भी पद का पार नहीं मिलता—जितना ही घिसा जाता है उतना ही उज्ज्वल निकलता है। विद्यापति की पदावलि में नित्य नया आकर्षण मिलता है। कबीर की फटकारें अभी तक कँपा देती हैं। भूषण के कवित्त आज भी मुर्दा नसों में खून खौला देते हैं। बिहारी का चमत्कार अब भी चकाचौंध पैदा कर देता है। मतिराम, केशव, देव सैकड़ों बरस के पुराने होकर भी आज तक फीके

नहीं पड़े हैं। क्या संसार के अन्य देशों का साहित्य भारतीय ब्रजभाषा साहित्य की तुलना कर सकेगा ? संभवतः अकेले तुलसी या सूर पर सारे संसार के साहित्यिकों को वारा जा सके।

सज्जनो ! ब्रजभाषा का साहित्य वह अपार सागर है, जिसके अनेक ग्रन्थ रत्न खोज निकाले जा चुके हैं फिर भी उनसे कहीं अधिक अभी किन्हीं अँधेरी कोठरियों में छिपे पड़े हैं, जिनके लिये परिश्रमी गोताखोरों की आवश्यकता है। ऊपर जिन भक्त एवं आचार्य कवियों के नाम उदाहरण मात्र के लिये दिये गये हैं उनकी भी अनेक अमर कृतियाँ अभी तक हमारी आँखों के सामने नहीं आ पाईं—अनेक अज्ञातनामा कवियों के ग्रन्थ हस्तलिखित पोथियों के रूप में दीमकों के भोजन का काम दे रहे हैं—आये दिन रद्दी के नीलाम में ऐसी सुन्दर हस्त-लिखित पोथियाँ मिल जाती हैं, जिनके एक एक पद पर एक एक पृष्ठ पर एक नई थीसिस लिखी जा सकती है। यह सब हमारी साहित्यिक अरुचि या अयोग्यता या अजीर्णता ही कही जा सकती है। इस विकार का हमें उपचार करना है। हमारी साहित्य परिषदें और साहित्य मंडल उपचार के वे अस्पताल हैं जिन्हें हमें आधुनिक साधनों से सुसज्जित करना है, जिनमें योग्य एवं अनुभवी चिकित्सकों का आयोजन करना है; जिनके लिए सुसम्पन्न प्रयोगशालाओं की व्यवस्था करनी है। सज्जनो ! आज हम जिस शिविर का आयोजन करने जा रहे हैं वह इन्हीं चिकित्सागृहों के कार्यकर्त्ताओं का ट्रेनिंग कैम्प है। कृपया आशीर्वाद दीजिये कि ये हमारे नये चिकित्सक अपने कार्य में सफल होकर समाज और साहित्य का कल्याण करें।

सज्जनो !

ब्रज साहित्य मण्डल के सुयोग्य कार्यकर्त्ताओं या ब्रज साहित्य के समृद्ध महारथियों को मैं कोई परामर्श दूँ या उनको मार्ग निर्देश करने की धृष्टता करूँ तो यह मेरी अनधिकार चेष्टा होगी। फिर भी ब्रजभाषा और ब्रज साहित्य के विषय में दो शब्द कहना असामयिक न होगा।

ब्रजभाषा के माधुर्य की कोई आज भी उपेक्षा करने का साहस नहीं करता। उसका सहज स्वाभाविक शब्द विन्यास कानों में अमृत सा बरसाने वाला आडम्बरहीन सरल उच्चारण-हृदय पर सीधा प्रभाव

करनेवाली भाव व्यंजना अभी तक दूसरी भावनाओं को प्राप्त नहीं हुई। आज भी ब्रजभाषा से अनभिज्ञ ब्रज की यात्रा करनेवाला दर्शक ब्रज-नारियों की लड़ाई में भी संगीत का आनन्द लेता है। कचहरियों के अंग्रेज हाकिम भी कभी कभी किसी अहीर का बयान लिखते समय किसी शब्द विशेष की भाव व्यंजना ब्रजभाषा की सरलता एवं सरसता पर मुग्ध हो उसका रसास्वादन करते देखे गए हैं। ज़रा रथ के मेले पर वृन्दावन आने का कष्ट कीजिये; ब्रज के गूजर, अहीर, जाट आदि बिना पढ़े लिखे नरनारियों के गीतों में आप भाषा विज्ञान की अनेक गुत्थियाँ सुलझाने में समर्थ हो सकेंगे। मैं मानता हूँ कि उसके शब्द खड़ीबोली के शब्दों की तरह डाइमण्ड कट नहीं हैं, फिर भी उसका स्थान आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है, यह शायद आपको स्वीकार करना ही होगा। यद्यपि पिछले लगभग १००० वर्षों के संघर्ष और परिवर्तनों के अनवरत आँधी तूफानों का ब्रज-भाषा के शब्दों पर प्रभाव पड़ा—वे घिसे हैं—तोड़े मरोड़े भी गये हैं—फिर भी उनका रूप विकृत नहीं हुआ—उनके वज़न में कमी नहीं आई; आज भी वे उतने ही भारी भरकम बने हुए हैं जितने हज़ार वर्ष पहले थे। इससे उस धातु के मूल्य का हमें अनुमान होता है जिसके वे बने हुए हैं। सज्जनो! यदि मैं इस स्थल पर ब्रजभाषा से शब्दों को लेकर उनकी तुलना खड़ी बोली और दूसरी देशी या विदेशी भाषाओं के शब्दों से कर ब्रजभाषा की श्रेष्ठता दिखाने का प्रयत्न करूँ, तो मुझे भय है कि भाषण का कलेवर बहुत बढ़ जायगा और शायद वह आपके अमूल्य समय पर आघात हो। इसलिए इस विषय को मैं यहीं छोड़ता हूँ।

सज्जनो!

ब्रजभाषा और ब्रज-साहित्य का नाम सुनते ही प्रायः लोगों को अश्लीलता का नाम लेकर उसी तरह नाक-भौ सिकोड़ते देखा है जिस तरह आजकल के राजनैतिक कार्यकर्त्ता धार्मिक चर्चाओं में साम्प्र-दायिकता से चौंकते हैं। फिर भी एक बात नम्रता-पूर्वक मैं आपसे धीरे से कहदूँ, कि हमारे राजनैतिक कार्यकर्ताओं के हृदय में धार्मिक भावनाएँ किसी अन्तरतम स्थान में बैठी उसी प्रकार पनपती रहती हैं जिस प्रकार अश्लीलता के नाम पर चौंक पड़ने वालों के हृदय में किसी

एकान्त स्थान में बैठकर उसका अध्ययन करने की लालसा छिपी रहती है। क्या आप कह सकते हैं कि आपके बार बार आदर्शवाद की दोहाई देने पर भी बिहारी को एक छोटा सा दोहा या मतिराम का सवैया आपके हृदय में गुदगुदी पैदा नहीं करता? यदि ऐसा होता है तो कवि अपने कर्त्तव्य में सफल होगया और उसकी कला सार्थक होगई फिर उसे दोष क्यों?

एक बात और हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता आज से नहीं अनादि काल से शृङ्गार-प्रिय रही है। भारतीय-सौन्दर्य टोइलेट्स के साधनों से नहीं, प्रकृति के दान से सर्वोपम रहा है। फिर कवि, शब्दों का चित्रकार कवि यदि उस ईश्वरीय सौन्दर्य से अनभिज्ञ होकर कोई आदर्शवादी कृत्रिम चित्र बनाता है, तो वह कला की ही हत्या नहीं करता, इसकी संस्कृति और सभ्यता के प्रति भी ग़द्दारी करता है, जो न क्षमा के योग्य है, न वांछनीय है। गोस्वामी तुलसीदास के "बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी—पिय तन चितै भौंह करि बाँकी। खंजन मञ्जु तिरीछे नैननि। निज पति करेहु तिन्हहिं सिय सैननि।" वर्णन में अश्लीलता से घबराकर यदि कोई आदर्शवादी कवि "शुभे तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं" का उत्तर "गोरे देवर श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।" में देकर सीता के शील को सुरक्षित रखता है, तो वह आज के बनावटी आदर्शवाद की रक्षा भले ही करले, भारतीय संस्कृति के स्त्रियोचित शील और संकोच की हत्या अवश्य करता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि माता सीता पुरातन भारतीय संस्कृति की प्रतीक नहीं, वे बीसवीं शताब्दी के किसी इंगलिश होटल की सम्भ्रान्त सदस्या हैं जो एक हाथ में कुत्ते की जंजीर पकड़े हुए ग्राम-बालाओं से कह रही हैं— "Hullo Ladies, here is my husband Mr." Ram, and he his younger brother Mr. Lakshman" इस वर्णन में शब्द-लाघव भले ही हो, किन्तु भारतीय शील और संकोच तो हमें तुलसी की पंक्तियों में ही मिलेगा।

मुझे खेद है कि मैं, आज के प्रतिनिधि कवि के वाक्यों की आड़ में लोक प्रवृत्ति पर एक कड़वा आक्षेप कर गया हूँ—आशा है आप विद्वान् महानुभाव मुझे इस अनधिकार चेष्टा के लिये क्षमा कर देंगे। मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि ब्रजभाषा साहित्य शृंगारमय होने

के कारण उसकी एकदम उपेक्षा नहीं की जा सकती। श्रीमद्भागवत जो संस्कृत के सर्वोत्कृष्ट विद्वानों की परीक्षा की एकमात्र कसौटी है, शृंगार से लवालव होने पर भी हमारी आराधना का ग्रन्थ है, इसमें कभी दो राय नहीं हो सकतीं। धर्म से उदासीन कट्टर से कट्टर व्यक्ति भी किसी ईश्वरीय प्रेरणा से ही कहिये श्रीमद्भागवत के लिए एक बार तो अवश्य ही सिर झुका देता है। राधा और कृष्ण का शृंगार जो ब्रज-भाषा का प्रधान विषय रहा है—मेरा विश्वास है अभी तक किसी शास्त्रार्थ या वादविवाद में अवांछनीय नहीं घोषित हुआ। भक्ति का प्रेम-दर्शन अंग स्वतः इतना अगाध और अथाह है कि उसका कठोर आलोचक, ब्रज की किसी रासलीला में कितना ही कठोर बन कर क्यों न बैठे जब नृत्य करती हुई राधा भगवान् कृष्ण के अंक में तेजी से गिरेंगी—कठोर आलोचक अवश्य ही एक बार तो 'बलिहारम् बलिहार' कह ही जायगा—भले ही अपनी कट्टरता का ध्यान कर बाद में इधर उधर देखने लगे। यह भारतीय संस्कृति का स्वाभाविक तत्व है जिसकी उपेक्षा आज हम अपने हृदय से नहीं बाहरी दिखावे के कारण करते हैं।

ब्रज साहित्य में शृङ्गार है केवल इसी अभियोग पर हम सूर, रसखान, मीरा जैसे भक्त गायकों को निर्वासन की सजा सुनादें, यह कहाँ तक न्याय संगत होगा मैं नहीं कह सकता। मैं तो बिहारी मतिराम जैसे मध्ययुग के शृङ्गारी कवियों में भी जब चमत्कार और रस जैसे कवित्व के प्रधान अंगों को देखता हूँ तो उनकी कला पर मुग्ध होजाता हूँ। फिर कला को उपयोगिता की स्थूलता से तो नहीं तोला जा सकता। एक नंगे धड़ंगे आदमी का चित्र भी किसी चित्रकार की कारीगरी का अमर नमूना हो सकता है इसे हम क्यों भूल जाते हैं। घोर शृङ्गारी या अश्लील कहे जानेवाला शृङ्गारी काव्य भी कवि के कवित्व की सफलता प्रकाशित कर सकता है इसे कौन नहीं जानता। 'कला कला के लिये' वाला वाक्य चाहे आज के स्थूल पदार्थवादी युग में भावुक भले ही कह जाय, है सत्य और कठोर सत्य। सज्जनो! जैसा मैंने आपसे पहले निवेदन किया अभी हमारे ब्रज-साहित्य के अनेक रत्न जगह जगह छिपे पड़े हैं। कुछ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में, कुछ ग्राम्यगीत तथा अन्य ग्राम-साहित्य के रूप में, कुछ सन्त-वाणियों के रूप में और कुछ इस प्रकार के दूसरे दूसरे रूपों में। हमें उन सब को खोजना है, उन्हें साफ़

और परिष्कृत करना है और फिर उनके मूल्य और महत्व के अनुसार उनका स्थान निश्चित कर उन्हें साहित्यिक प्रदर्शिनी में रखना है। इस अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य के लिये जहाँ एक ओर प्रचुर धन-राशि की आवश्यकता है, वहाँ दूसरी ओर अनुभवी लगनवाले कार्यकर्त्ताओं की भी जरूरत है, जो इस कठोर कार्य की प्रारम्भिक असफलता और शुष्कता से हतोत्साह न होकर धैर्यपूर्वक अपने कर्त्तव्य पर बढ़े चले जायँ; इस साहित्य-सागर में एक-दो बार, सौ-दोसौ बार नहीं हजारों लाखों बार गोते लगाये और लगाते रहें, उस समय तक जब तक कि वे संसार के सामने कोई अमूल्य रत्न रखने में सफल न हों। ईश्वर उन्हें अवश्य उनके कार्य में सफलता देगा।

ब्रज का साहित्य आज भी नीरस नहीं है। ब्रज में आज भी अपनी कलाएँ हैं। रासलीलाएँ आज भी ब्रज की नाट्यकला को जीवित रखे हैं—मन्दिरों की साँझियाँ आज भी चित्रकला के अनुपम नमूने हैं—फूल-बंगले और मनोमुग्धकारी मूर्तियाँ आज भी वास्तुकला और मूर्तिकला को सजीव बनाये हुए हैं। यह सब कलाएं—सब ललितकलाएँ ब्रज में और ब्रज के केन्द्रतम मथुरा और वृन्दावन में प्रायः अनायास ही देखी जाती हैं—इन कलाओं के कलाकार कभी कभी तो निरक्षर भट्टाचार्य भूखे-प्यासे मजदूर होते हैं। मैं चक्रवर्त्ती नामक वृन्दावन के अर्धविक्षिप्त एक कांग्रेस वालण्टियर को जानता था जिसने गन्दे नाले में डूबते हुए एक हरिजन को बचाने में अपने प्राणों का बलिदान दे दिया था। यह भूखा बंगाली 'साँझी' बनाने की कला में अद्वितीय था। आज भी छोटी छोटी झोंपड़ियों में आपको वे कुशल कलाकार मिल जायेंगे जिनकी छैनी में पत्थर को जीवन प्रदान करने की शक्ति है। किन्तु आज हमें उनकी खोज करनी है और उनके मिल-जाने पर उनकी और उनकी कला की रक्षा करनी है।

आल्हा और ढोला जैसे मशहूर ग्रामीण प्रबन्ध-काव्य पुराने हो गये हैं इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इन प्रबन्ध काव्यों ने कितने ही अपढ़ ग्रामीण कवियों को जन्म दिया है, इसका अनुभव आपको तब होगा जब आप ब्रज के किसी गाँव में जाड़े के दिनों में अलाव पर बैठकर शोभाराम या हरिफूला के प्रबन्ध काव्यों में से ढपली पर एक-दो भजन सुनें। आप बाग़ बाग़ होजायेंगे। आत्मा प्रसन्न हो जायगी। कहने

लगेंगे कि वास्तव में ब्रज में कविता की कोई स्वाभाविक हवा ही चलती है। तब आपको लोहबन के बुड्ढे रामदयाल जी की गर्वोक्ति 'कविताई माता हमें गर्भ में सिखाती हैं।' सच मालूम पड़ेगी। आज भी ब्रज के मेलों में 'शिवराम जावरौ गाम' के गीत ब्रज के ग्राम्य कवि का नाम अमर किये हुए हैं।

सज्जनो! आज का यह शिविर कोरे साहित्य के अन्वेषकों का ही शिविर नहीं, यह संस्कृति और कला के अन्वेषकों और स्वयंसेवकों का शिविर है। भारत की प्राचीनतम संस्कृति—ब्रज संस्कृति का सन्देश आज फिर हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और अटक से लेकर कटक तक ही नहीं, उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक और जापान से लेकर ब्रिटेन तक भेजना है। कृपया इन कार्यकर्ताओं की तन से मन से और धन से सहायता कीजिये और इनकी सफलता के लिये आशीर्वाद दीजिये।

एक बार फिर मैं नम्रतापूर्वक अपनी ओर से, ब्रज-साहित्य-मण्डल की ओर से और इस शिविर की स्वागत समिति की ओर से आप सब का हृदय से स्वागत करते हुए और आपकी कृपा और अनुग्रह के लिये आभार प्रदर्शित करता हूँ।

शाह गौरशरण गुप्त

जनपदीय अध्ययन की एक आँख

[डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, पी-ऐच० डी०,
डी० लिट्०, सुपरिण्टेण्डेट म्यूजियम्स, नई दिल्ली]

भारत जनपदों का देश है। ग्रामों के समूह जनपद हैं। गाँवों और जनपदों का ताँता हमारे चारों ओर फैला हुआ है और इस भूमि के अधिकांश जन गाँवों और जनपदों में ही बसे हुए हैं। गाँव-बस्तियाँ हमारी संस्कृति की धात्री हैं। गाँव सच्चे अर्थों में पृथिवी के पुत्र हैं। गाँव के जीवन की जड़ें धरती का आश्रय पाकर पनपती हैं। गाँवों में जन के जीवन को टिकाऊ आधार मिलता है। शहरों का जीवन उखड़ा हुआ जान पड़ता है। जनपदों का जीवन हजारों वर्षों की अटूट परम्परा को लिये हुए है। गाँवों में जन की सत्ता है, नगर राजाओं की क्रीड़ा-भूमि रहे हैं। जन की सत्ता और महिमा, एवं जन-जीवन की स्वाभाविक सरल निजरूपता जनपदों में सुरक्षित है जहाँ बाहरी अंकुशों से जीवन की प्राण-दायिनी शक्ति पर कम से कम प्रहार हुआ है। जनपदीय जीवन स्थिति, शान्ति और अपनी ही मानस भूमि की अविचल टेक ढूँढता है। इसके विपरीत पुर का जीवन धूम-धाम के नये ठाट रचता है। दोनों के दो पथ हैं। इतिहास के उतार-चढ़ाव में वे कभी एक दूसरे से टकराते हैं, कभी मेल ढूँढते हैं और फिर कभी एक दूसरे से परे हट जाते हैं। वैदिक काल से आज तक यही लहरिया गति चलती रही है। वैदिकयुग प्राथमिक भूसन्निवेश का समय था, जब गाँवों और जनपदों में फैलकर जीवन के बीज बोये गए। बन और जङ्गल, नदियों के तट और संगम जीवन की किलकारी से लहलहा उठे। फिर साम्राज्यों का उदय हुआ और नन्द-मौर्य युग में नगरों के केन्द्र प्रभावशाली बन बैठे। गुप्त युग में नगर और जनपदों ने एक दूसरे के प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाया। वह समन्वय का युग था, जनपदों ने अपने जीवन का मथा हुआ मक्खन पुरों की भेंट चढ़ाया और पुरों ने उपकृत होकर संस्कृति के वरदान से जनपदों को सँवारा। मध्यकालीन संस्कृति में

---

* यह भाषण ता० ७ सितम्बर १९४७ को शिक्षण-शिविर के नियमित कार्य-क्रम में होना था।

पौर जानपद-जीवन की धाराएँ फिर एक दूसरे से हट गईं और जनपदों की अपभ्रंश भाषा और जीवन शैली प्रधान रूप से आगे बढ़ी। नगरों में गुप्तकालीन संस्कृति की जो थाती बची थी वह अपने आप में ही घुलती रही, जनपदों से उसे नया प्राण मिलना बन्द हो गया। अतएव मध्यकाल की काव्य-कला और संस्कृति नगरों के मूर्छित जीवन के बोझ से निष्प्राण दिखाई देती है। पौर-जानपद समन्वय के युग में लिखे गए रघुवंश के पहले-दूसरे सर्गों में जितना जीवन है उसकी तुलना जब हम नैषधचरित और विक्रमांकदेव चरित काव्यों के वर्णनों से करते हैं तब हमें यह भेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। मुसलमानों के आगमन से जनपदों ने फिर अपने अङ्गों को कछुए की तरह अपने आप में सकोड़ लिया और वे उस सुरक्षित कोष के भीतर समय काटते रहे। शहरों में परदेशी सत्ता जमी और उसने जीवन के ढाँचे को बदला। उससे आगे अँग्रेजों की संस्कृति का प्रभाव भी शहरों पर ही सबसे अधिक हुआ। गाँव अपने वैभव की भेंट शहरों को चढ़ाते रहे, गाँवों को निचोड़ कर शहरों का भस्मासुर आगे बढ़ता रहा। यह नियम है कि जब जन की सत्ता जागती है, तब जनपद समृद्ध बनते हैं, जब जन सो जाता है तब पुर विलास करते हैं। अतएव हमारे जीवन के पिछले दो-सौ वर्षों में जनपदीय जीवन पर चारों ओर से लाचारी के बादल छा गये और उनके जीवन के सब स्रोत रुँध गये। आज फिर जनपदों के उत्थान का युग आया है। देश के महान कंठ आज जनपदों की महिमा का गान करने के लिए खुले हैं। देश के राजनीतिक संघर्ष ने ग्रामों और जनपदों को आत्मसम्मान, आत्म-प्रतिष्ठा और आत्ममहिमा के भाव से भर दिया है। पिछली भूचाली उथल-पुथल और महान् आन्दोलन का सर्वव्यापी सूत्र एक ही पकड़ में आता है, अर्थात्—

'जानपद जन की प्रतिष्ठा'

आज तेईससौ वर्षों के बाद हमने प्रियदर्शी अशोक के शब्दों को कान खोलकर सुना है, और राष्ट्रीय उत्थान के लिए मूलमन्त्र की भाँति उन्हें स्वीकार किया है। राजाओं की बिहार यात्राओं का अन्त करके उसने एक नये प्रकार की धर्म यात्राओं का आन्दोलन चलाया था जिन का उद्देश्य था—

'जानपदसा च जनसा दसने धमनुसथि च धम पलिपुछा च।'

अर्थात्, जानपद जन का दर्शन, जानपद जन के लिए धर्म का सिखावन, और जानपद जन के साथ मिलकर धर्म विषयक पूछ-ताँछ।

इन तीन प्रमुख उद्देश्यों के द्वारा सम्राट ने जनता के नैतिक और धार्मिक जीवन एवं आचार-विचारों में परिवर्तन लाने का भारी प्रयत्न आरम्भ किया था। अशोक की परिभाषा के अनुसार सारा मानवी-जीवन जिन सामाजिक और नीति-नियमों से बँधा है, वे धर्म हैं। अतएव धर्म विषयक और आचार और विचारों को सुधार कर समस्त जन-समुदाय के जीवन को ऊपर उठाने की योजना अशोक ने की थी। उसके मन में जब यह विचार आया होगा तब निश्चय ही उसका ध्यान देश की उस कोटानुकोटि जनता की ओर गया, जो सच्चा भारतवर्ष था। वह जनता गाँवों में बसती थी। आज तेईस शताब्दियों का चक्र घूम जाने पर भी भारतमाता ग्रामवासिनी ही बनी हुई है। इसी ग्रामवासिनी गर्वीली जनता का दर्शन, सिखावन और परिपृच्छा (पूछ-ताँछ) जनपदीय अध्ययन का निचोड़ है। अपना ध्येय और उद्देश्य निश्चित करके अशोक ने एक पैर और आगे बढ़ाया—

'हे वं ममा लजूका कटा जानपदस हितसुखाये येन एते अभीता अस्वथ संतं अविमना कंमानि पवतयेवूति।'

अर्थात्—उसने राजकर्मचारी नियुक्त किये जिनका कर्तव्य था कि जान पद जन का हित करें और उनके सुख की बढ़ती करें, जिससे गाँवों की जनता निडर और स्वस्थ होकर मन लगाती हुई अपने अपने कामों को कर सके।

अपने राष्ट्रीय जीवन में अशोक की नीति को आज भरपूर अपनाने की आवश्यकता है। जनपद और ग्रामों का पुनः निर्माण, जीवन का अध्ययन और सच्चा ज्ञान हमें अपने पुनः निर्माण के लिये ही करना अनिवार्य है। ग्रामवासिनी जनता के कल्याण में ही हम सबका कल्याण छिपा हुआ है। उसके हित-सुख के बिना हम सबका हित-सुख निहित है। जनपदीय अध्ययन देश की अपनी आवश्यकता की पूर्ति है। वह साहित्यिकों का विनोद नहीं।

अब तक हमने विदेशियों से प्रीति या कुरुख करना सीखा है, हमने अपने आप से प्यार करना अभी तक नहीं सीखा। हमारी वर्तमान शिक्षा-दीक्षा, विचार और आचार की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम अपने भूले हुए जीवन से फिर नाता जोड़ें, अपनी ही वस्तुओं और संस्थाओं से अनुराग का नया पाठ पढ़ें। अपने आपको जानने से जिस आनंद का जन्म होता है वह ही हमें जीवन के पथ में आगे बढ़ा सकता है। जनपदीय अध्ययन राष्ट्रीय कार्य-क्रम का हरावल दस्ता है। सब कार्यों से यह कार्य अपने महत्त्व और आवश्यकता में गुरुतर है। हमारी जनता के जीवन का जितना भी विस्तार है उस सबको जानने, पहचानने और फिर से जीवित करने का सशक्त व्यापार जनपदीय अध्ययन का उद्देश्य है। लोगों के बिछड़े हुए ध्यान को हम बार-बार इस आन्दोलन के द्वारा जनता के जीवन पर केन्द्रित करना चाहते हैं। जनता ही हमारे उदीयमान राष्ट्र की महती देवता है। हमारे सब आयोजनों के मूल में और सब विचारों के केन्द्र में जनता प्रतिष्ठित है। यह सत्य जनपदीय अध्ययन का मेरुदण्ड है। जनता के जीवन के साथ हमारी सहानुभूति और आत्मा जितनी दृढ़ होगी उतना ही अधिक हम जनपदीय अध्ययन की आवश्यकता को समझ पावेंगे।

जनपद जीवन के अनन्त पहलुओं की लीला भूमि है। खुली हुई पुस्तक के समान जनपदों का जीवन हमारे चारों ओर फैला हुआ है। पास गाँव और दूर देहातों में बसने वाला एक-एक व्यक्ति इन रहस्य भरी पुस्तकों के पृष्ठ हैं। यदि हम अपने आपको उस लिपि से परिचित करलें जिस लिपि में गाँवों की जनपदों की अकथ कहानी पृथ्वी और आकाश के बीच में लिखी हुई है, तो हम सहज ही जनपदीय जीवन की धार्मिक कथा को पढ़ सकते हैं। प्रत्येक जानपद-जन एक पृथ्वी पुत्र है। उसके लिए हमारे मन में श्रद्धा होनी चाहिए। हम उसे अपढ़, गँवार और अज्ञान रूप में जब देखने की धृष्टता करते हैं तो हम गाँव के जीवन में भरे हुए अर्थ को खो देते हैं। जिस आँख से हमारे पूर्वजों ने ग्रामों और जनपदों को देखा था। उसी श्रद्धा की आँख से हमें फिर देखना है और उनके नेत्रों में जो दर्शन की शक्ति थी उसको फिर से प्राप्त करना है। हम जब गाँवों को देखते हैं तो हमें वे नितान्त अर्थ-शून्य और रुचिहीन दिखायी पड़ते हैं। परन्तु हमारे

पूर्वजों की चक्षुष्मत्ता जनपदों के विषय में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, उनकी आँखों में अपरिचित अर्थ भरा पड़ा था। इस अर्थवत्ता को हमें फिर से प्राप्त करना है, न केवल अध्ययन के क्षेत्र में, वरन वास्तविक जीवन के क्षेत्र में भी। यदि हम अपनी देखने की शक्ति को परिमार्जित कर सकें तो जनपद के जीवन का अनन्त विस्तार हमारे सम्मुख प्रकट हो उठेगा। एक गेहूँ के पौधे के पास खड़े होकर जिस दिन हम पहली-वार उसके साथ मित्रता का हाथ बढ़ायेंगे, उसी दिन हम उसकी निजवार्त्ता से परिचित होकर नया आनन्द प्राप्त करेंगे।

किस प्रकार 'सो इद' रूप में गेहूँ का दाना जुड़ी हुई पत्तियों के साथ प्रथम जन्म लेता है, किस प्रकार 'नरई' पड़ने से वह बड़ा होता है, किस प्रकार 'गमौदे' के भीतर बाल के साथ 'घरित्राएँ' रहती हैं जो बढ़ने पर बाहर आ जाती हैं, और फिर किस प्रकार उन घरित्राओं के भीतर 'मक्खन फूल' बैठता है। जब उसके भीतर का रस श्वेत दूध के रूप में बदल कर हमारे खेतों और जीवन को एक साथ लक्ष्मी के वरदान से भर देता है। मानो क्षीर-सागर की पुत्री साक्षात् प्रगट होकर जनपदों में दर्शन देने आई हो। यदि बर्फीली हवा न बहे, बढ़िया समा हो, मोटी धरती हो और पानी लगा हो तो एक एक गमौधा राष्ट्र के जीवन का बीमा लेकर अपने स्थान पर खड़ा हुआ स्वयं हँसता है और अन्य सबको प्रसन्न करता है। गेहूँ के पौधे का यह स्वरूप जनपदीय आँख की बढ़ी हुई शक्ति का एक छोटा सा उदाहरण है। सुतिया हँसली पहने हुए भाँग के पौधे जिनकी निगरती हुई बालें हवा के साथ झूलती हैं उसी प्रकार का दूसरा हाथ उपस्थित करते हैं और इस प्रकार के न जाने कितने आनन्दकारी प्रसंग जन-पदीय जीवन में हमें एक दिन देखने को मिल सकते हैं।

जनपदीय अध्ययन का विद्यार्थी तीर्थ-यात्री की तरह देहात में चला जाता है, उसके लिए चारों ओर शब्द और अर्थ के भण्डार खुले मिलते हैं। नए नए शब्दों से वह अपनी झोली भरकर लौटता है। जनपदीय जीवन का एक पक्का नियम यह है कि वहाँ हर एक वस्तु के लिए शब्द हैं। उस क्षेत्र में जो भी वस्तु है उसका नाम अवश्य है। कार्यकर्त्ता को इस बात का दृढ़-विश्वास होना चाहिए। ठीक नाम को प्राप्त कर लेना उसकी अपनी योग्यता की कसौटी है।

यदि हम इस सरल और स्वाभाविक ढङ्ग से किसी देहाती व्यक्ति को बातों में ला सकेंगे तो उसकी शब्दावली का भण्डार हमारे सामने आने लगेगा। उस समय हमें धैर्य के साथ अपने मन की चलनी से उन शब्दों को छान लेना चाहिए और बीच बीच में हलके प्रश्नों के व्याज से चर्चा को आगे बढ़ाने में सहायता करनी चाहिए। जनपदीय व्यक्ति उस गौ के समान है जिसके थनों में मीठा दूध भरा रहता हो, किन्तु उस दूध को पाने के लिए युक्ति पूर्वक दुहने की आवश्यकता है। गाँव का आदमी गाँव का व्यक्ति भारी प्रश्नों से उलझन में पड़ जाता है। उसके साथ बातचीत का ढङ्ग नितान्त सरल होना चाहिए और प्रश्न-कर्त्ता को बराबर उसी के धरातल पर रह कर बात-चीत चलानी चाहिए। यदि हम उस धरातल से ऊपर उठ जायँगे तो बातचीत का प्रवाह टूट जायगा। जनपदीय कार्य-कर्त्ता को उचित है कि अपनी जानकारी को पीछे रखे और अपने संवाददाता की जानकारी का उचित समादर करे और आस्था के साथ उसके विषय में प्रश्न पूछे। प्रश्न करते समय यदि बीच में कहीं भूल या अटकाव हो तो उस भूले हुए प्रसंग को पीछे छोड़ कर प्रश्नों का तांता आगे बढ़ने देना चाहिए। बहुत सम्भव है कि अप्रिय बातचीत के प्रसंग में पिछली भूल हाथ आ जाय और प्रश्नों की कड़ी पूरी हो जाय।

अहिछला के चिम्मन कुम्हार की कृपा से बर्त्तन और खिलौने बनाने के लगभग सौ से ऊपर शब्द हमें प्राप्त हुए। जिनकी पुरातत्व-शास्त्र की दृष्टि से हमारे लिए बड़ी उपयोगिता और आवश्यकता थी, उससे हमने उस डोरे का नाम पूछा जिस से कुम्हार चाक पर से बर्त्तन को अलग करते हैं। उसने कहा उसे डोरा ही कहते हैं और कुछ नहीं। मन में हमें विश्वास न हुआ किन्तु प्रकट रूपसे बातों का क्रम चलाये रखा। थोड़ी देर में उसे स्वयं याद आया उस डोरे के लिए 'छैन' शब्द है। यह संस्कृत 'छेदन' प्रा० 'छेअन' का हिन्दी रूप है और कुम्हारों की पुरानी परिभाषा को सामने लाता है। इसी प्रकार चाक के पास में पानी रखने की हाँडी के लिए भी 'चकैंड़ी' शब्द प्राप्त हुआ जो 'मूल चक्र-भाण्डिका' से प्राकृत और अपभ्रन्श में विकसित होकर अपने वर्त्तमान रूप तक पहुँचा है। इसी प्रकार अँग्रेजी Lughandle के लिये 'चुंदों' शब्द प्राप्त हुआ। उसने अपनी परिभाषा में बताया कि चाक पर रखी हुई मिट्टी के 'गुल्ले' से तीन फेरे में वर्त्तन बन जाता है।

अर्थात् पहले 'अँगूठा गढ़ा कर फैलाना', फिर 'ऊपर को सूत कर सतर करना' और तब एक पोरा अन्दर और एक पोरा बाहर रख कर पिटार बनाना और अन्त में छैन से काट लेना। इस प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली भाषा की वर्णन शक्ति को विकसित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जनपदीय जीवन से इसके सहस्रों उदाहरण प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि हमारी भाषा का सम्बन्ध जनपदों से जोड़ा जायगा, तभी उसे नया प्राण और नयी शक्ति प्राप्त होगी। गाँवों की बोलियाँ हिन्दी-भाषा का वह सुरक्षित कोष है जिसके धन से वह अपने समस्त अभाव और दलिद्दर को मिटा सकती है।

जनपदों की परिभाषा लेकर गाँव के जीवन का वर्णन हमारे अध्ययन की बहुत बड़ी आवश्यकता है और इस काम को प्रत्येक कार्य-कर्त्ता तुरन्त हाथ में ले सकता है। जनपदीय अध्ययन को विकसित करने के तीन मुख्य द्वार हैं:—

पहला—भूमि और भूमि से सम्बन्धित वस्तुओं का अध्ययन।

दूसरा—भूमि पर बसने वाले जन का अध्ययन।

तीसरा—जन की संस्कृति या जीवन का अध्ययन भूमि, जन और संस्कृति रूपी त्रिकोण के भीतर सारा जीवन समाया हुआ है। इस वर्गीकरण का आश्रय लेकर हम अपने अध्ययन की पग-डण्डियों को बिना पारस्परिक शंका के निर्दिष्ट स्थान तक ले जा सकते हैं।

भूमि सम्बन्धी अध्ययन के अन्तर्गत समस्त प्राकृतिक जगत है। जिसके विषय में कई सहस्र वर्षों से देश की जनता ने लगातार निरीक्षण और अनुभव के आधार पर बहुमूल्य ज्ञान एकत्र किया है। उसकी थाती देहाती जीवन में बहुत कुछ सुरक्षित है। अनेक प्रकार की मिट्टियों का और चट्टानों का वर्णन और उनके नाम, देश के कोने-कोने से एकत्र करने चाहिए। प्राकृतिक भूगोल के वर्णन के लिए भी शब्दावली जनपदों से ही प्राप्त करनी होगी। एक बार बम्बई की रेल यात्रा में चम्बल नदी के बाँए किनारे पर दूर तक फैली हुई ऊँची-नीची धरती और करावदार कागर देखने को मिले। विचार हुआ कि इनका नाम अवश्य होना चाहिए। किन्तु उस बार यह नाम प्राप्त न हुआ। दूसरी बार की यात्रा में सौभाग्य से एक जनपदीय सज्जन

से जो साथ यात्रा कर रहे थे उस भौगोलिक विशेषता के लिए उपयुक्त शब्द प्राप्त हुआ। वहाँ की बोली में उन्हें चम्बल के 'बेहड़' कहते हैं। सहस्रों वर्षों से हमारी आँखें जिन वस्तुओं को देखती रही हैं उनका नामकरण न किया होता तो हमारे लिए यह लज्जा की बात होती। जहाँ कहीं भी कोई प्राकृतिक विशेषता भूमि पर्वत अथवा नदी के विषय में है वहाँ ही स्थानीय बोली में उसके लिए शब्द होना ही चाहिए। इस साधारण नियम की सत्यता देश व्यापी है। दो शब्दों की सहायता के बिना पाठ्य पुस्तकों में हमारे प्राकृतिक भूगोल का वर्णन अधूरा रहता है। पहाड़ों में नदी के बर्फीले उद्गम स्थान (अंग्रेजी ग्लेशियर) के लिए आज भी 'बाँक' शब्द प्रचलित है जो संस्कृत वक्त्र से निकला है। साहित्य में 'नदी-वक्त्र' पारिभाषिक शब्द है। इसी प्रकार बर्फीली नदी के साथ आने वाले कंकड़-पत्थर के ढेरके लिए जो बर्फ के गलकर बहआने पर नदी प्रवाह में पड़ा रह जाता है। (अंग्रेजी Moraine) पर्वतीय भाषा में दाको-गाको शब्द चालू है। मिट्टी पानी और हवाओं का अध्ययन भूमि सम्बन्धी अध्ययन का विशेष अङ्ग है। जलाशय, मेघ और वृद्धि सम्बन्धी कितना अधिक ज्ञान जनपदीय अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है। हमारे आकाश में समय समय पर जो मेघ छा जाते हैं उनके बिजोने, घोरने और बरसने का जो अनन्त सौन्दर्य है और बहुबिध प्रकार उनके सम्बन्ध में उपयुक्त शब्दावली का संग्रह और प्रकाशन हमारे कण्ठ को वाणी देने के लिए आवश्यक है। 'ऋतु संहार' लिखने वाले कवि के देश में आज ऋतुओं का वर्णन करने के लिए शब्दों का टोटा हो यह तो विडम्बना ही है। ऋतु,-ऋतु में बहनेवाली हवाओं के नाम और उनके प्रशान्त और प्रचण्ड रूपों की व्यवस्था जनपदीय जीवन का एक अत्यन्त मनोहर पक्ष है। फागुन मास में चलनेवाला फगुनेटा, अपने हड़कम्पीशीत से मनुष्यों में कँपकपी उत्पन्न करता हुआ पेड़ों को 'झोर' डालता है और सारे पत्तों का ढेर पृथ्वी पर आ पड़ता है। दक्खिन से चलने वाली 'दखिनिहा वायु' न बहुत गर्म न बहुत ठंडी भारतीय ऋतु चक्र की एक निजी विशेषता है। वैशाख से आधे जेठ तक चलने वाली 'पच्छिवाँ' या 'पछुआ' अपने समय से आती है और फूहड़ स्त्रियों के आंगन का कूड़ा-कर्कट ले जाती है। आधे जेठ से पुरवइया हमारे आकाश को छा लेती है जिसके विषय में कहा जाता है :—

भुइयाँ लोट चलै पुरवाई,
तब जानहु बरखा ऋतु आई।

भूमि में लोटती हुई धूल उड़ाती हुई यह तेज वायु सबको हिला डालती है। किन्तु यही पुरवाई यदि चैत के महीने में चलती है तो आम 'लसिया' जाता है और बौर नष्ट हो जाता है, लेकिन चैत की पुरबाई 'महुए' के लिए वरदान है। महुए और आम के अभिन्न सखा जानपद-जन के जीवन में 'पुरवइया' का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। जनपद वधुयें इसके स्वागत में गाती हैं :—'तनिक चलो हे पुरवा बहिन' हमें मेह की चाह लग रही है—

"चय नेक चलो परवा भाण।
मेहारो म्हारे लग रही चाय।"

इसी प्रकार पानी को लाने वाली 'शूकरी' हवा है जो उत्तर की ओर से चलती है और जिसके लिए राजस्थानी लोक-गीतों में स्वागत का गान गाया गया है।

'सूरया, उड़ी वादली ल्यायी रे'

हे सूरया, उड़ना और बदली लाना, अथवा—

रीति मति आयै, पाणी भर लायै।
तों सूरया के संग आवै बदली।

अर्थात्—हे बदली! ऐसी मत आइयो, पानी भर लाइयो, सूरया के संग आइयो।

हमारे आकाश की सबसे प्रचण्ड वायु 'हउँहरा' (सं० हविधारक) है जो ठेठ गर्मी में दक्खिन-पच्छिम के नैऋत्य कोण से जेठ मास में चलती है। यह रेगिस्तानी हवा प्रचण्ड लू के रूप में तीन दिन तक बहती रहती है जिसकी लपटों से चिड़िया चील तक झुलस कर गिर पड़ती है। यह वायु रेगिस्तानी 'समून' की तरह है जो अरबों के देश में काफी बदनाम है। मेघ और वायु के घनिष्ट सम्बन्ध पर जनपदीय अध्ययन से अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। देहाती उक्तियों में इस विषय की अच्छी सामग्री मिलती है।

पशु-पक्षियों और वनस्पतियों का अध्ययन भी जनपदीय अध्ययन का एक विशेष अङ्ग है। अनेक प्रकार के तृण-लता और वनस्पतियों से

हमारे जङ्गल भरे हुए हैं। एक एक घास, बूटी, या मखड़ी के पास जाकर हमारे पूर्वजों ने उसका विशेष अध्ययन किया और उसका नामकरण किया। आज भी भारतीय आयुर्वेद के वनस्पति सम्बन्धी नामों में एक अपूर्व कविता पायी जाती है। शंखपुष्पी, स्वर्णक्षीरी व्याकजंघा, सर्पाक्षी, हंसपदी आदि नाम कविता के चरण हैं। प्रत्येक जनपद को सांगोपांग अध्ययन वनस्पतिशास्त्र की दृष्टि से पूरा होना आवश्यक है। इस विषय में गाँवों और नगलों के रहनेवाले व्यक्ति हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकते हैं। देशी नामों को प्राप्त करके उनके संस्कृत और अँगरेजी पर्याय भी ढूँढ़ने चाहिये। यह काम कुछ सुलझे हुए ढंग से जनपदीय-मंडल की केन्द्र वर्ती संस्था में किया जा सकता है। वृक्ष वनस्पति के जीवन से उनके फूलने फलने के क्रम से हम चाहे तो वर्ष भर का तिथिक्रम बना सकते हैं। हमारी पाठन पुस्तकें इस विषय में ही प्रचार का सबसे अच्छा साधन बनाई जा सकती हैं। आठ वर्ष की आयु से छोटे बच्चों को आस-पास उगने वाले फूलों और पेड़ों का परिचय कराना आवश्यक है और चौथी कक्षा से दसवीं कक्षा तक तो यह परिचय क्रमिक ढंग से अवश्य पढ़ाया जाना चाहिये। इससे देहात की प्रारम्भिक शालाओं में अपने जीवन के प्रति एक नयी रुचि और नया आनन्द पैदा होगा। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि ज्ञान की यह नयी सामग्री परीक्षा के बोझ लेकर कहीं हमारे भीतर प्रवेश न करने पावे। हमें तो खिली धूप में गाने वाले स्वतंत्र पक्षी की तरह हमारे ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए। अध्ययन का यही दृष्टिकोण पक्षियों के विषय में भी सत्य है। देहात के जीवन में रङ्गबिरङ्गे पक्षियों का विशेष स्थान है। वहाँ कहते हैं कि भगवान की रचना में साढ़े तीन दल होते हैं:—

१—चीटी दल
२—टीढ़ी दल
३—चिड़ी दल

आधे दल में पोह और मानस हैं। पक्षियों के आने जाने और ठहरने के कार्यक्रम से भी हम वर्ष भर का पञ्चाङ्ग निश्चित कर सकते हैं—छोटा सा सफेद 'ममोला' पक्षी जो देखने में बहुत सुन्दर लगता है। जाड़े का अन्त होते-होते चल देता है। उसके जाने पर कोयल वसन्त की उष्णता लेकर आती है और स्वयं कोयल उस समय हमसे

विदा लेती है जब तुरई में फूल फूलता है। ऋतु-ऋतु और प्रत्येक मास में हमारे घरों में वाटिकाओं और जङ्गलों में जो पक्षी उतरते हैं उनकी 'निजवार्ता' और 'परवार्ता' अत्यन्त ही रोचक है। जिससे परिचित होना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। हमारे निर्मल जलाशयों में क्रीड़ा करने वाले हंस और क्रौंच पक्षी किस समय यहाँ से चले जाते हैं। कहाँ जाते हैं और कब लौटते हैं इसकी पहचान हमारी आँख में होनी चाहिए। इस प्रकार के सूक्ष्म निरीक्षण के द्वारा डगलस डेवर ने एक उपयोगी पुस्तक तय्यार की थी। जिसका नाम है 'बर्डकैलेंडर आव नार्थ इण्डिया'। पक्षियों का अध्ययन हमारे देश में बहुत पुराना है। वैदिक साहित्य में पक्षियों का ज्ञान रखने वाले विद्वान को 'वायो-विद्यिक' कहा गया है जिसका रूपान्तर पतञ्जलि के महाभाष्य में वायस विद्यिक पाया जाता है। राजसूय यज्ञ के अन्त में अनेक विद्याओं के जानने वाले विद्वानों की एक सभा लगती थी। जिसमें वे लोग अपने अपने शास्त्र का परिचय राजा को देते थे, व्यापक रूपमें पक्षी भी राजा की प्रजा हैं और उनकी रक्षा का भार भी उस पर है। इस सभा में विशेषज्ञ देश के पक्षियों का परिचय राजा को देते थे। इस देशमें पक्षियों के प्रति जो एक हार्दिक अनुराग की भावना, छोटे बड़े सबमें पायी जाती है वह संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। जहाँ आकाश के इन वरद-पुत्रों को हर समय तमञ्चे का खटका बना रहता है। पक्षियों के प्रति इस जन्म सौहादर्य का संवर्द्धन हमें आगे भी करना चाहिए। इस देश की विशाल भूमि में देखने और प्रशंसा करने की जो अतुलित सामग्री है उस सबके प्रति मन में स्वागत का भाव रखना जनपदीय अययन की विशेषता है। भूमि माता है और मैं उसका पुत्र हूँ (माता भूमिः पुत्रोऽहम पृथिव्याः) यह जनपदीय भावना का मूल सूत्र है।

जिस वस्तु का अपनी भूमि के साथ सम्बन्ध है, उसे ही भली प्रकार जानना और प्यार करना यह हमारा कर्त्तव्य है और आपने राष्ट्र के नवाभ्युत्थान में उसके उद्धार और उन्नति का उपाय करना यह उस कर्तव्य का आवश्यक परिणाम है। उत्तर से दक्षिण तक देश में फैली हुई गायों की नस्लें, घोड़े, हाथी, भेड़, बकरी इन सम्बन्धी वंश-वृद्धि और मंगल योजना के विषय में हमें रुचि होनी चाहिए। जब हम सुनते हैं कि इटावा प्रदेश की जमनापारी बकरी दूध देने में

संसार भर में सबसे बढ़कर है एवं जब हमें ज्ञात होता है कि लखनऊ के असील मुर्गों ने, जिन के देह की नसें तारकशी की तरह जान पड़ती हैं ब्राजील में जाकर कुश्ती मारी है तो हमें सच्चा गर्व होता है। इसका कारण मातृभूमि का वह अखंड सम्बन्ध है जो हमें दूसरे पृथ्वी पुत्रों के साथ मिलाता है।

जनपदीय अध्ययन का अत्यन्त रोचक विषय मनुष्य स्वयं है। मनुष्य के विषय में यहाँ हम जितनी जानकारी प्राप्त कर सकें करनी चाहिए। ज्ञान-साधन का प्रत्येक नया दृष्टि-कोण जिसे हम विकसित कर सकें मनुष्य विषयक हमारी रुचि को अधिक गंभीर और रसमय बनाता है। इस देश में सैकड़ों प्रकार के मनुष्य बसते हैं उनकी रहन-सहन, उनके रीति रिवाज, उनके आचार-विचार, उनकी शारीरिक विशेषतायें, उनकी उत्पत्ति और वृद्धि, उनके संस्कार और धर्म, उनके नृत्य और गीत, उनके पर्व और उत्सब एवं भाँति भाँति के आमोद-प्रमोद, उनके बीच के विशेष गुण एवं स्वभाव, उनके वेष और आभूषण, उनके निजी नाम एवं स्थान-नामों के विषय में जानने और खोज करने की रुचि और शक्ति हमें उत्पन्न करनी चाहिए, यही जनपदीय अध्ययन की सच्ची आँख है। इस आँख में जितना तेज आता जायगा उतने ही अधिक अर्थ को हम देखने लगेंगे। भगवान वेदव्यास की बताई परिभाषा के अनुसार यहाँ मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है :—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

मनुष्य हमारे जनपदीय मण्डल के केन्द्र में है। उसका आसन ऊँचा है। स्वयं मनुष्य होने के नाते सम्पूर्ण मानवीय जीवन में हमें गहरी रुचि होनी चाहिए। बीते हुए अनेक युगों की परम्परा वर्त्तमान पीढ़ी के मनुष्य में साक्षात् प्रकट होती है। आने वाले भविष्य का निर्माता भी यही मनुष्य है। हमारे पूर्वजों ने कर्म-वाणी और मन से जो कुछ भी सिद्धि प्राप्त की उस सबकी थाती वर्तमान मानव जीवन को प्राप्त हुई है। इतने गंभीर उत्तराधिकार को लिये हुए जो मनुष्य हमारे सम्मुख है उसकी विचित्रता कहने की नहीं अनुभव करने की वस्तु है। मानव जीवन के वर्त्तमान ताने-बाने के भीतर शताब्दियों

और सहस्राब्दियों के सूत्र ओत-प्रोत हैं। विचारों और संस्थाओं की तहें क्रमानुसार एक दूसरे के ऊपर जमी हुई मिलेंगी और इन पत्तों को यदि हम सावधानी के साथ अलग कर सकेंगे तो हमें अनेक युगों की संस्कृतियों का विचित्र आदान-प्रदान एवं समन्वय दिखायी देगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भारतवर्ष समन्वय प्रधान देश है। समन्वय धर्म ही यहाँ की सार्वभौम संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। अनेक विभिन्न संस्कृतियों के अनमिल और अनगढ़ विचार और व्यवहार यहाँ एक दूसरे से टकराते रहे हैं और अन्त में सहिष्णुता और समन्वय के मार्ग से सहानुभूति पूर्वक एक साथ रहना सीखे हैं। परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा जीवन को ढालने की विलक्षण कला इस देश में पायी जाती है। जिस प्रकार हिमालय के शिला खंडों को चूर्ण करके गंगा की शाश्वत धारा ने उत्तरापथ की भूमि का निर्माण किया है जिसके रजकण एक दूसरे से सटकर अभिन्न बन गये हैं और जिनमें भेद की अपेक्षा साम्य अधिक है। उसी प्रकार का एकीकरण भारतीय संस्कृति के प्रवाह में पली हुई जातियों में हुआ है। किसी समय इस देश के विस्तृत भू-भाग में निषाद जाति का बसेरा था, उसी जाति के एक विशेष व्यक्ति गुह-निषाद की कथा हमारे राम-चरित से संबंधित है। गुह-निषाद के वंशज आज भी अवध के उत्तर-पूर्वी भाग में बसे हुए हैं किन्तु आज उनकी संस्कृति हिंदू धर्म की विशाल संस्कृति के साथ घुल-मिलकर एक बन चुकी है। जितना कुछ उनका अपना व्यक्तित्व था उसे छोड़ने के लिए बाधित नहीं हुए, उसकी रक्षा करके भी वे एक अपने से ऊँची संस्कृति के अंक में प्रतिपालित होकर उनके साथ एक होगये। समन्वय की इसी प्रक्रिया का नाम 'हिंदूकरण पद्धति' है। क्या जनपद और क्या नगर इस प्रकार के समन्वय का जाल सर्वत्र बुना हुआ है किन्तु जनपदों की प्रशान्त गोद में इस प्रकार के प्रीति-सम्पन्न समन्वय का अध्ययन विशेष रूप से किया जा सकता है, जहाँ आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से विषमताएं एक मर्यादा के भीतर रहती हैं।

अध्ययन के जिन दृष्टिकोणों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें से जिस किसी को भी हम लें हमारे सामने रोचक सामग्री का भंडार खुल जाता है। उदाहरण के लिए किसी गाँव में भिन्न भिन्न श्रेणियों के मनुष्यों के व्यक्तिवाची नामों को ही हम लें, इन नामों

में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी शब्द-रूपों का रोचक सम्मिश्रण दिखायी पड़ेगा। गाँव का सिब्बा नाम वही है जिसका संस्कृत रूपान्तर शिवदत्त या शिव के साथ अन्य कोई उत्तर पद जोड़ने से बनता है। व्याकरण के ठोस नियमों के अनुसार उत्तर पद का लोप कर नाम को छोटा बनाने की प्रथा लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। उत्तर पद के लोप का सूचक 'क' प्रत्यय जोड़ने की बात वैयाकरण बताते हैं। इसके अनुसार 'शिवदत्त' का रूप 'शिवक' बनता है। शिवक का प्राकृत में 'शिवअ' और उसीका अपभ्रंश में सिब्बा रूप हुआ। गाँवों का कल्लू या कलुआ संस्कृत कल्याणचन्द्र या कल्याणदत्त का ही रूपान्तर है। कल्य का कल्ल और कल्ल से 'उक' प्रत्यय जोड़कर 'कल्लुक' रूप बनता था जिसका प्राकृत एवं अपभ्रंश में कल्लुव या कलुआ होता है; अथवा इससे ही कल्लू एवं कालू रूप बनते हैं। अपभ्रंश भाषा के युग में इस प्रकार के नामों की बाढ़ सी आगयी थी और प्रायः सभी नामों को अपभ्रंश का चोला पहनना पड़ा। 'नानक' जैसा सरल नाम प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से मूल संस्कृत 'ज्ञानदत्त' से बना है। ज्ञान—णाण—प्रा० हिन्दी नान + क; ये इस विकास के तीन चरण हैं। इसी प्रकार मुग्ध से मूधा, स्निग्ध से नीधा। विपुलचन्द्र से बूलचन्द्र आदि नाम हैं। ठेठ गँवारू नामों का भी अपना इतिहास होता है। 'छीतर' 'फिक्कू' 'पवारू' नामों के पीछे भी पुराने विश्वासों का रहस्य छिपा है जो भाषा-शास्त्र और जन-विश्वासों की सहायता से समझा जा सकता है। मनुष्य नामों की तरह जनपदीय जीवन का दूसरा विस्तृत विषय स्थान-नाम हैं। प्रत्येक गाँव, खेड़े, नगले के नाम के पीछे भाषा-शास्त्र से मिश्रित सामाजिक इतिहास का कोई न कोई हेतु है। निग्रोध ग्राम से 'निगोहा', प्लक्ष गाँव से पिलखुआ, गंध-कुलिका से गंधौली, सिद्धकुलिका या सिद्धपल्ली से सिधौली, मिहिरकुलिका से महरौली आदि नाम बनते हैं। गाँवों में तो प्रत्येक खेत तक के नाम मिलते हैं, जिनके साथ स्थानीय इतिहास पिरोया रहता है। शीघ्र ही समय आयेगा जब हम स्थान-नाम-परिषदों का संगठन करके इन नामों की जाँच पड़ताल करने लगेंगे। दूसरे देशों में इस प्रकार की छानबीन करने वाली परिषदों के बड़े बड़े संगठन हैं और उन्होंने अध्ययन और प्रकाशन का बहुत कुछ काम भी किया है।

जनपदीय अध्ययन की जो आँख है उसकी ज्योति भाषा-शास्त्र की सहायता से कई गुना बढ़ जाती है। भाषा-शास्त्र में रुचि रखने वाले व्यक्ति के लिए तो जनपदीय अध्ययन कल्पवृक्ष के समान जानना चाहिए। किसान के जीवन की जो विस्तृत शब्दावली है उसमें वैदिक काल से लेकर अनेक शताब्दियों के शब्द संचित हैं। हम यदि चाहें तो प्राचीन काल की बहुत सी ऐसी शब्दावली का उद्धार कर सकते हैं जिसका साहित्य में उल्लेख नहीं हुआ। मानव श्रौतसूत्र में हसिया के लिए 'असिद' शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसी से लोक में हसिया शब्द बना है। किन्तु उसका साहित्यिक प्रयोग वैदिक काल के उपरान्त फिर देखने में नहीं आया। केवल हेमचन्द्र ने एक बार उसे देशी शब्द मान कर अपनी देशीनामामाला में उद्धृत किया है। इसी प्रकार श्रौतसूत्रों में प्रयुक्त 'इण्ड्र' शब्द का रूप लोक में ईंडरी या ईंडुरी आज भी चालू है यद्यपि उसका साहित्यिक स्वरूप फिर देखने में नहीं आया। गेहूँ की नाली, मूँज या घास आदि से बटी हुई रस्सी के लिए पुराना वैदिक शब्द 'यून' था जिसका रूपान्तर 'जून' किसानों की भाषा में जीवित है। जिससे निकला हुआ वर्तन मांजने का 'जूना' शब्द बहुत सी जगह प्रचलित है।

इस प्रकार के न जाने कितने शब्द भरे हुए हैं, भाषा-शास्त्री के लिए जनपदीय बोलियाँ साक्षात् कामधेनु के समान हैं। दो हजार डेढ़ हजार वर्षों के पिछड़े हुए शब्द तो इन बोलियों में चलते-जाते हाथ लगते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के अनेक धात्वादेशों की धात्री जनपदों की बोलियाँ हैं। हिन्दी भाषा की शब्द-निरुक्ति के लिए हमें जनपदीय बोलियों के कोषों का सर्व प्रथम निर्माण करना होगा। बोलियों में शब्दों के उच्चारण और रूप जाने बिना शब्द की व्युत्पत्ति का पूरा पेटा नहीं भरा जा सकता। बोलियों की छानबीन होने के उपरान्त कई लाभ होने की संभावना है। प्रथम तो इन कोषों में हमारे प्रादेशिक जीवन का पूरा ब्यौरा आ जायेगा। शब्द नामक ज्योति के प्रकाश में जीवन के अँधेरे कोठों को प्रकाश से भर देना है। जनपदों के बहुमुखी जीवन के शब्दों को पाकर हमारी साहित्यिक वर्णन-शक्ति विस्तार को प्राप्त होगी।

हिन्दी भाषा में जनपदों के भण्डार से लगभग ५० सहस्र नये शब्द आ जायेंगे, और भौतिक वस्तुओं एवं मनोभावों को व्यक्त

करने के लिए ठीक शब्दावली का हमारा टोटा मिट जायगा। जनपदों के साथ मिलकर हमारी भाषा को अनेक धातुएँ, मुहावरे और कहावतों का अद्भुत भंडार प्राप्त होगा। कहावतें हमारी जातीय बुद्धिमता के समुचित सूत्र हैं। शताब्दियों के निरीक्षण और अनुभव के बाद जीवन के विविध व्यवहारों में हम जिस संतुलित स्थिति तक पहुँचते हैं लोकोक्ति उसका संक्षिप्त सत्यात्मक परिचय हमें देती है। साहित्य के अन्य क्षेत्र में सूत्रों की शैली को हमने पीछे छोड़ दिया, किन्तु लोकोक्तियों के सूत्र हमारे चिर साथी रहे हैं और आगे भी रहेंगे। लोकोक्तियों के रूप में समस्त जाति की आत्मा एक बिन्दु या कूट पर संचित होकर प्रकट हो जाती है। उदाहरण के लिए माँ के प्रति जो हमारी सर्वमान्य पुरानी श्रद्धा है वह इस उक्ति में जो हमें वैसवाड़ा के एक गाँव में प्राप्त हुई कितने काव्यमय ढंग में अभिव्यक्त मिलती है:—

'स्वाँति के बरसे माँ के परसे तृप्ति होती है'

बुन्देलखंडी की एक उक्ति है—

'अक्कल बिन पूत कठैंगर से
बुद्धी बिन बिटिया डैंगुर सी'

प्रत्येक व्यक्ति में बूझ और समझ के लिए जो हमारा प्राचीन आदर का भाव है, पंचतंत्र-हितोपदेश आदि नीति उपदेशों के द्वारा जिस नीति निपुणता की प्रशंसा की गयी है, जिस बुद्धिमत्ता का होना ही सच्ची शिक्षा है, स्त्री और पुरुष दोनों के लिए जिसकी आवश्यकता है, उस बुद्धि अथवा अक्ल की प्रशंसा में सारे जनपद की आत्मा इस लोकोक्ति में बोल पड़ी है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कठैंगर संस्कृत का 'काष्ठार्गल' (वह डंडा जो किवाड़ों के पीछे अटकाव के लिए लगाया जाता है) और 'डैंगुर' 'डंडार्गल' (वह डंडा या लकड़ी जो पशुओं को रोकने के लिए उनके गले से लटका दिया जाता है।) के रूप हैं।

प्रत्येक जनपदीय क्षेत्र से कई कई सहस्त्र कहावतें मिलने की संभावना है। उनका उचित प्रकाशन और संपादन हिन्दी साहित्य की अनमोल वस्तु होगी। यह भी नियम होना चाहिए कि जनपदीय शालाओं में पढ़ायी जाने वाली पोथियों में स्थानीय सैकड़ों कहावतों

का प्रयोग किया जाय। दशम श्रेणी तक पहुँचते पहुँचते विद्यार्थी को अपनी एक सहस्र लोकोक्तियों का अर्थसहित अच्छा ज्ञान करा देना चाहिए।

भारतवर्ष का जो कृषि-प्रधान जीवन है उसकी शब्दावली प्राचीन समय में क्या थी साहित्य में उसका लेख नहीं बचा किन्तु जनपदीय बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन से हम उसे फिर प्राप्त कर सकते हैं। इससे प्रान्तीय भारतीय जीवन पर एक नया प्रकाश पड़ेगा। खेतों की जुताई, बुआई, कटाई और मँड़नी से सम्बन्ध रखने वाले शब्दों को पंजाब से बंगाल तक और युक्तप्रान्त से गुजरात-महाराष्ट्र तक के जनपदों से यदि हम एकत्र करें तो संस्कृत मूलक समान शब्दों का एक व्यापक ताना-बाना बुना हुआ मिलेगा। कुछ शब्द अपनी-अपनी बोलियों में भिन्न भी होंगे किन्तु समान शब्दों के आधार से हम प्राचीन शब्दावली तक पहुँच सकेंगे। खेत काटनेवाले के लिए 'लोवा' [सं० लावक], गन्ना काटनेवाले के लिए 'कपटा' [संस्कृतः कॢप्त] ऐसे शब्द हैं जो हमें तुरन्त पुरानी परंपरा तक पहुँचा देते हैं। आज भी मेरठ के गाँव गाँव में वे चालू हैं, जीवित हैं। कुएँ की 'आन्हर' [सं० अंघ्रि = चरण], छींटकार वीज बोने के लिए 'पबेड़ना' धातु, [सं० प्रवेरिता], जवान बछिया के लिए 'ओसर' [सं० उपसर्या = गर्भधारण के योग्य] आदि अनेक शब्द प्राचीन परम्परा के सूचक हैं। मध्यकाल के आरम्भ में जब मुसलमान यहाँ आये तो हमारे नागरिक जीवन में बहुत से परदेशी शब्दों का चलन हो गया और अपने शब्द मर गये। किन्तु कृषि शब्दावली में अपना स्वराज्य बना रहा और कचहरी के शब्दों को छोड़ कर जिनका केन्द्र शहरों में था शेष शब्दावली पुरानी ही चालू रही। इस सत्य को पहचान कर हम भाषा-शास्त्र की सहायता से अनेक जनपदीय शब्दों के साथ नया परिचय पा सकते हैं। आवश्यक शोध और व्याख्यानों के द्वारा इस कार्य को आगे बढ़ाना होगा। कृषि के साथ ही भिन्न-भिन्न पेशेवर लोगों के शब्द हैं जिनका संग्रह और उद्धार करना चाहिए। दिल्ली के अंजुमन तरक्किए उर्दू की ओर से इस प्रकार का कुछ कार्य किया गया था और उस संस्था की ओर से पेशेवर लोगों की शब्दावली आठ भागों में (फरहंगे इस्तलाहात-ए-पेशेवरान) छप चुकी है, किन्तु यह काम उससे बहुत बड़ा है और इसमें सीखे हुए, भाषा-शास्त्र

से परिचित, कार्यकर्त्ताओं की सहायता की आवश्यकता है। अकेले रँगरेज की शब्दावली से विविध रंग और हलकी चटकीली रंगतों के लिए लगभग दो सौ शब्द हम प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु जनपदीय अध्ययन के लिए शब्दों से भी अधिक महत्व-पूर्ण जनपदीय मनोभावों से परिचय प्राप्त करना है। जनपदीय मानव के हृदय में सुख-दुख, प्रेम और घृणा, आनन्द और विरक्ति, उल्लास और सुस्ती, लोभ और उदारता आदि मन के अनेक गुणों से प्रेरित होकर विचरने और कर्म करने की जो प्रवृत्ति हैं उसका स्पष्ट दर्शन किस साहित्य से हमें मिलता है? जनपदीय मनोभावों का दर्पण साहित्य तो अभी बनने के लिए शेष है। ग्रामवासिनी भारत-माता का पुष्कल परिचय प्राप्त करना हमारे राष्ट्रीय जीवन की एक बड़ी आव-श्यकता है। राष्ट्रीय चरित्र और प्रकृति या स्वभाव के ज्ञान के लिए हमें इस प्रकार के जनपदीय साहित्य की नितान्त आवश्यकता है। इस दृष्टि से जनपदीय जीवन का चित्र उतारने वाले जितने भी परिचय ग्रन्थ या उपन्यास लिखे जायँ स्वागत के योग्य हैं। बड़े विषयों पर लिखना अपेक्षाकृत सरल है किन्तु उस लेखक का कार्य अपेक्षाकृत कठोर है जो अपने आपको जनपदीय सीमा के भीतर रख कर लिखता है और जो बाहरी छाया से जनपदीय जीवन के चित्र को विकृत या लुप्त नहीं होने देता। इस प्रकार का साहित्य अन्ततोगत्वा पृथ्वी के साथ हमारे सम्बन्ध और आस्था का परिचायक साहित्य होगा।

जनपदीय अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और गहरा है उसमें अपरिमित रस और नवीन प्रकाश भी है। जीवन के लिए उसकी उपयोगिता भी कम नहीं है। उस अध्ययन के सफल होने के लिए सधे हुए ज्ञान और समझदारी की भी आवश्यकता है। मानसिक सहानुभूति और शारीरिक श्रम के बिना यह कार्य पनप नहीं सकता। जनपदीय अध्ययन की आँख लोक का वह खुला हुआ नेत्र है जिसमें सारे अर्थ दिखाई पड़ते हैं। ज्यों-ज्यों इस नेत्र में देखने की शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों भूतत्व में छिपे हुए रत्न और कोषों की भाँति जनपदीय जीवन के नए-नए भण्डार हमारे दृष्टि-पथ में आ जाते हैं। जनपदीय चक्षुष्मत्ता साहित्यिक का ही नहीं प्रत्येक मनुष्य का भूषण है। उसकी वृद्धि जीवन की आवश्यकता के साथ जुड़ी है। अशोक के शब्दों में जानपद जन का दर्शन हमारी जनपदीय आँख की सच्ची सफलता है।

लोक-जीवन और संस्कृति

(श्री० सत्येन्द्र एम० ए०)

अब तक मनुष्य जीवन का जो प्रवाह रहा है वह इस प्रकार का रहा है कि उसमें जीवन की उन बातों को महत्व दिया गया है जो बातें उसके नित्य और दैनिक जीवन में नहीं आतीं। समस्त मनुष्य-जीवन के दो रूप होते हैं। एक विशेष जीवन और दूसरा साधारण घरेलू जीवन। मनुष्य नित्य घरेलू जीवन पर एक प्रकार से परदा डालता है और विशेष जीवन को उससे ऊपर उभारना चाहता है। इस विशेष जीवन के लिए वह चेष्टा करता है, वह इस विशेष जीवन के साथ स्वयं विशेष महत्वपूर्ण बनने और नेतृत्व प्रदर्शन करने की चेष्टा करता है, जब कभी समाज में मिलता है तो अपने को स्वभावतः विशेष रूपसे प्रकट करता है। इन दो रूपों में से हमें मनुष्य-जीवन के दो पहलू दिखाई पड़ते हैं। एक वह है जिसे सभ्यता का जीवन कहते हैं—ऐसा जीवन मनुष्य की संस्कृति से घनिष्ठ संबन्ध नहीं रखता। सभ्यता का जीवन मनुष्य के सोद्देश्य सजे-सँवरे चैतन्य उद्योग से सम्बन्ध रखता है। सभ्यता का जीवन मानव के प्रकृत रूप को पीछे धकेल कर उसके अपने निर्मित-विकसित आदर्शों पर खड़ा होता है। उसका अध्ययन जैसे मानव-समाज के चेतन-मन का अध्ययन है; वह जिस मनोविज्ञान से होता है, वह मनोविज्ञान पूर्ण मानव के अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं। उसके द्वारा मनुष्य के समस्त मन-सम्बन्धी विकारों का समाधान नहीं होता। हमारा चैतन्य मस्तिष्क ही उसके अध्ययन का विषय है। चैतन्य मस्तिष्क के अतिरिक्त भी और एक मानस है जिसका हाल ही में शोध हुआ है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में अब तक जो शोध हुए थे उनमें रोगों और मन के सम्बन्ध पर विशेष दृष्टि नहीं थी। किन्तु हिस्टीरिया जैसे कुछ रोगों का सम्बन्ध मनुष्य के मन से बहुत गहरा है। इन रोगों की चिकित्सा में एक जर्मन विद्वान को यह पता चला कि यह सब कार्य चैतन्य मस्तिष्क के विकार का नहीं;

उससे सम्बंधित नहीं, फिर भी किसी मन से ही सम्बन्धित है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि चैतन्य मस्तिष्क के अन्दर अचैतन्य मस्तिष्क है उसी के द्वारा यह ऐसे उपद्रव होते हैं। इस प्रकार जितना ही अध्ययन उसने किया उसे इस भीतरी अवचेतन मन में निष्ठा बढ़ी। चैतन्य मस्तिष्क केवल उन बातों को ग्रहण करता है और प्रकाश में लाता है जो चीजें समाज में प्रचलित रुचि के अनुकूल होती हैं, जिन्हें समाज स्वीकार करता है, जिनसे समाज या व्यक्ति घृणा नहीं करता। लेकिन मनुष्य-जीवन में छोटी-बड़ी अच्छी-बुरी सभी बातें आती रहती हैं। उनमें समाज अथवा व्यक्ति जो बातें ग्रहण नहीं करना चाहता उनको चैतन्य मस्तिष्क कुचलता है, उन्हें चेतना में नहीं आने देता। पर यही विचार जो सामयिक दृष्टि से इस प्रकार अग्राह्य माने जाते हैं जीवन के मर्म से गहरा सम्बन्ध रखते हैं। ऐसे विचार मर नहीं जाते, वे अचैतन्य मस्तिक में समा जाते हैं। तब यह स्पष्ट है कि यथार्थ मस्तिष्क अचैतन्य मस्तिष्क के अतिरिक्त है। मानवी सभ्यता इसी चेतन-मानस का परिणाम है, और मानव जीवन के मर्म को विशेष-जीवन के उद्योगपूर्ण आतंक के द्वारा नीचे दबाये हुए है। अचैतन्य मस्तिष्क अयथार्थ मस्तिष्क को परा-भूत करने की चेष्टा करता है। अतः मनुष्य की साधारण और विशेष रूप की स्थिति होती है यह स्पष्ट है। उसमें साधारण रूप में मनुष्य क्या है इसे भी हमें जानना है। इसके लिए हमें जीवन के भीतर झाँकने की आवश्यकता पड़ती है। सभ्य जीवन मानव-जीवन का सबसे ऊपरी स्तर है; यह हमारे जीवन के भव्य भवन की ऊपरी सजावट का रूप है। यह वैभव और सौष्ठव से विभासित है, इसको हम बहुधा नगरों में ही केन्द्रित देखते हैं। सभ्यता का जीवन जिन प्रसाधनों पर निर्भर करता है, वे नगर और शहर में ही उपलब्ध होते हैं। फलतः सभ्य-जीवन और सभ्यता का 'नगर' अथवा शहर से सम्बन्ध हो गया है। नगर से नीचे गाँव है—नगर कम हैं गाँव ज्यादा, गाँव ही में भारत के ७५ प्रतिशत मनुष्य रहते हैं— और नगर जीवन की तुलना में ग्राम्य जीवन कम सभ्य है, अथवा बिल्कुल ही नहीं। यही कारण है कि अर्थ-तत्व के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि 'गँवार' शब्द कैसे 'असभ्य' का द्योतक हो गया। हम सभ्य जीवन, नगर के जीवन की ओर आकृष्ट होते हैं, पर जैसा स्पष्ट है, जीवन का यथार्थ रूप उसका मार्मिक रूप गाँवों में है। साधारण लोक वहीं रहता है। फिर भी साधारण हमसे

ओझल है, और हम विशेष को देखते हैं, उसी की प्रतिष्ठा करते हैं। साहित्यमें भी हमें यह आभिजात्य दृष्टि व्याप्त मिलती है। साहित्यकार ने साहित्य में 'ग्राम्यत्व' नाम का दोष स्पष्ट स्वीकार किया है। इस प्रकार उद्योग-पूर्वक साहित्य को वृहद और यथार्थ जीवन से अलग रखा गया। किन्तु मनुष्य की अभिव्यक्ति तो प्रत्येक क्षेत्र में होती है। 'ग्राम्यत्व' भी एक अभिव्यक्ति है। भले ही वह किसी की दृष्टि में किसी कारण दोष हो। गाँवों में भी 'साहित्य' रचा गया; वह तथाकथित 'साहित्य' में सम्मिलित नहीं किया गया; साहित्यकार की आभिजात्य दृष्टि ने उसे घृणा की दृष्टि से देखा, उसका तिरस्कार किया। इस प्रकार साहित्यकार ने भी उसके दो रूप स्वीकार किये—एक ग्राम्य रचना और दूसरी साहित्यिक रचना। उदाहरणार्थ तुलसीदास की रामायण साहित्यिक रचना है और रामायण पर लिखे गए जिकड़ी के भजन साहित्यिक नहीं माने जाते; क्योंकि वे तुलसीदास की भाँति विशेष ग्रन्थों का अध्ययन और मनन करके नहीं लिखे गए। लेकिन तुलसीदास की रामायण में हम वह सहज स्वाभाविक रूप नहीं पाते जो जिकड़ी के भजनों में हम पाते हैं। ग्रामीण कवि ने कोई शास्त्र नहीं पढ़ा। अपनी उमङ्ग और भावों को अपने उद्गार के रूप में; श्लील या अश्लील भाषा में और उसी के अनुकूल छन्दों में उसने प्रकट कर दिया। यह ग्राम-साहित्य उन्होंने किसी ग्रन्थ में नहीं पढ़ा, किसी पाठशाला में नहीं सीखा। अपने बाप-दादा से सुनकर ही उसे जाना और उसी रूप में उसे सुरक्षित रखा। प्राचीन काल में वेदों को भी लोग सुनकर ही मौखिक परम्परा से सुरक्षित रखते थे।

आज के साहित्यकार ऐसे ग्राम-साहित्य को यह कहकर उपेक्षा करते हैं कि इसमें कोई सुरुचि नहीं, सौष्ठव नहीं, गूढ़ कला नहीं; हम कला में इन्हें ऊँचा स्थान नहीं दे सकते। इस प्रकार के विश्वास साहित्य-क्षेत्र में हैं, वे जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ते हैं: जैसे रहन-सहन, पहनावे-ओढ़ावे आदि में। जीवन में और जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य में इस प्रकार हमें वैविध्य और अन्तर मिलता है। साधारण जीवन—लोक जीवन—ग्राम्य-जीवन बहुत कुछ पर्यायवाची है। लोक-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्वाभाविकता है। इसके असली रूप को जानने के लिए हमें लोक-जीवन के अध्ययन

की महती आवश्यकता है। यह लोक-जीवन किसी भी जाति की पृष्ठ-भूमि और मूल-प्रेरणा-स्थल है। यही अवचेतन मानस की भाँति जाति और समाज के समस्त जीवन को सञ्चालित करता है। तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि विशेष जीवन के द्वारा हम अपने को संस्कार किया हुआ यानी सभ्य पाते हैं और लोक-जीवन को हम असंस्कारों, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में पड़ा हुआ गर्हित-जीवन समझते हैं। किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी ही है। आज हमें इसके रहस्य को खोलना होगा। जिन्हें हम अन्धविश्वास और रूढ़ियाँ मानते हैं उनका अध्ययन हम वैज्ञानिक आधार पर कर सकते हैं। हम ऐसी प्रत्येक रूढ़ि और विश्वास को लेकर उसके इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए उसके 'मूल' को जान सकते हैं। जैसे इतिहास से हम देखते हैं कि १० वर्ष पूर्व अमुक स्थान का क्या रूप रहा, उसके १०० वर्ष पूर्व के उसके क्या चिन्ह मिलते हैं; और उससे भी पूर्व वह क्या था; यों हम यह भी जानने की चेष्टा करते हैं कि उसकी मूल जड़ क्या है। इस प्रकार के अध्ययन में हमारे इतिहास का अध्ययन भी शामिल हो जाता है। उदाहरण के लिए लोक-जीवन के अध्ययन में 'शकट चौथ' की वार्ता को ले सकते हैं। उसमें कहीं-कहीं 'तिलकुटे' की एक मनुष्य जैसी आकृति बनायी जाती है। मुख पर घी और गुड़ रख दिया जाता है। घर का कोई बालक या पुरुष, बालिका या स्त्री नहीं, एक चाकू से उसका सिर धड़ से अलग काट देता है। काटते समय उससे कहा जाता है कि वह "मैं ऐं ऐं" करे। कटा हुआ सिर गुड़ और घी के साथ काटने वाले को मिलता है। इस प्रथा में कितनी बातें छिपी दीखती हैं। स्पष्ट ही 'शकट-चौथ' का यह 'तिलकुटा' बलि किसी समय की मानव बलि की स्मृति है। प्राचीन-काल में आदिम-मानव मनुष्य-बलि देता होगा। अधिक सभ्य होने पर मनुष्य-बलि बन्द करदी गयी होगी और देवता के सन्तोष के लिए 'बकरी' की बलि दी जाने लगी होगी। ऐसा संशोधन कितने ही स्थानों पर किया गया है। झाँसी में 'सनीचरा पहाड़' पर शनिश्चर देवता को पहले मनुष्य-बलि पर्वत पर से ढकेल कर दी जाती थी ऐसा कहा जाता है। अब किसी पशु की बलि दी जाती है। यही स्थिति शकट-चौथ की बलि के सम्बन्ध में हुई होगी। 'मैं ऐ ऐं' की ध्वनि में बकरी का भाव है। फिर तीसरे प्रभाव में अहिंसा वाली भावधारा ने बकरी के स्थान पर खाने योग्य किसी

पदार्थ की मूर्ति से काम चलाने का सुझाव दिया होगा। यह चौथ मकर संक्रान्ति के निकट पड़ती है। इस अवसर पर तिलों का महत्व है। अतः तिल की मूर्ति बनायी जाने लगी। मानव-बलि असभ्य वन्य-जातियों में अभी कुछ समय पूर्व तक थी, विशेषकर खोंडों में। मानव बलि का कुछ संकेत मोहंजोदड़ो से मिले ठप्पों से भी मिलता है। उनमें एक उभार में एक वृक्ष की दो फाँकों में भिंची हुई एक मानवीय मूर्ति है। खोंडों में मनुष्य-बलि में यही प्रचार प्रचलित था। एक वृक्ष के फटे हिस्से में बलि-पात्र को भींच दिया जाता था। मनुष्य-बलि वैदिक-काल में प्रचलित थी यह हमें शुनःशेप के कथानक से विदित होता है। खोंडों के पुरोहित बलि करते समय बलि-पात्र से जो बातें कहते हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है कि, खोंडों के पुरोहित की उन बातों के भाव वैदिक बलि देने वाले के भावों से टक्कर लेते हैं। वे जो मन्त्र पढ़ते हैं उनमें भी बलि के इतिहास की बात कहते हैं। हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र की कथा में हमें बलि का उल्लेख मिलता है। वेदों में जब लोक-जीवन आदिम अवस्था में था उस समय भी बलि का वर्णन मिलता है। इस तरह बलि के इतिहास से हमें मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की लोकवार्ता के समझने में सहायता मिलती है। इस तरह रूढ़ियों और अन्धविश्वास की चीजों से हम इतिहास जान सकते हैं। 'शकट' की बलि में कितना पुराना इतिहास टूट-फूट कर बचा हुआ है। इस तरह तुलना करके लोक-जीवन के अध्ययन करने की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास हमें लोक-संस्कृति का मूल बतलाते हैं। मानवीय उपयोग के लिए इनके अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। यह अध्ययन विधिपूर्वक किया जाना चाहिए।

फ्रेजर महोदय ने लोक जीवन संबन्धी समस्त रीति रिवाजों का एक संग्रह किया है जिसका नाम 'स्वर्णिम शाखा' (गोल्डन बॉउ) है। इस संग्रह ने विविध देशों की लोकवार्ता की तुलना प्रस्तुत करदी है। भारत में भी इस प्रकार का कार्य करने की महती आवश्यकता है। भारत एक विशाल देश है। ज्ञान की साधना के लिए हम अपने क्षेत्र में ही काम करें। लोकवार्ता में दो प्रकार की सामग्री होती है उसका बहुत बड़ा अंश तो ऐसा होता है जो व्यापक होता है। कुछ अंश केवल स्थानीय। अतः यदि एक स्थान अथवा क्षेत्र का भी लोक-अध्ययन विधिवत् कर लिया जाय तो समस्त क्षेत्र के अध्ययन में

सुविधा हो जाय। ब्रज-साहित्य-मंडल और उसके क्षेत्र को इस दशा में महत्वपूर्ण कदम उठाना है। उसे इस लोक-अध्ययन की वैज्ञानिक-प्रणाली का साधारण रूप प्रस्तुत कर देना होगा। उससे विशेष वैज्ञानिक अध्ययन की नींव पड़ जायगी। इस क्षेत्र में इसी के लिए हमें लोकवार्ताओं का संग्रह करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस प्रकार संग्रह के लिए हम विद्वान् पुरुषों से एक प्रश्न माला तैयार करायें और फिर उसका उत्तर लिखें।

वह प्रश्न तालिका कुछ इस प्रकार की हो सकती है :

१—गाँव का इतिहास, वहाँ कौन देवी देवता पूजे जाते हैं?

२—(१) नाम गोत्र और जन्म के बोलने का नाम? (२) पूज्यों, मृतकों का नाम कब नहीं लिया जाता? (३) क्यों नहीं लिया जाता? (४) अशौच और अन्तिम अवस्था में क्यों नहीं लिया जाता? (५) कुछ काल के लिए कुछ नाम लिया जाता है? (६) किसी ऐसे निषिद्ध नाम को लेने पर क्या होता है? (७) विविध अवसरों और अवस्थाओं में वे नाम बदले जाते हैं? (८) बच्चों की उत्पत्ति पर नाम कुछ होता है? पुकारने का नाम कुछ होता है? (९) इस प्रकार के निषेध के क्या कारण होते हैं?

३—कुछ जातियाँ कुछ वर्गों से किन्हीं कारणों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं रखतीं? ऐसी जातियों और उनके वैवाहिक सम्बन्ध न होने वाले वर्गों का विवरण लिखिए।

[इन कारणों में कहीं-कहीं तो स्थान विशेष का विचार रहता है, और कहीं-कहीं पैतृक एकता इन सम्बन्धों में बाधक होती है]

४—उन वर्गों का उल्लेख कीजिए जिनसे बाहर कोई जाति वैवाहिक सम्बन्ध रखती ही नहीं हो।

५—कुछ वर्ग ऐसे होते हैं जिनमें स्त्री या तो उसी वर्ग में किसी पुरुष से विवाह करे अथवा अपने से ऊँचे वर्ग के पुरुष से और साथ ही पुरुष उसी वर्ग में अपना विवाह करे अथवा अपने से नीचे वर्ग में भी कर सकता है। ऐसे वर्गों का विवरण दीजिए।

६—उन सीमाओं का उल्लेख कीजिए जो किसी यथार्थ अथवा कल्पित समगोत्रता के सिद्धान्त के आधार पर बनी हों और जो उस वर्ग में अथवा उससे बाहर होने वाले विवाहों को रोकती हों।

७—किसी जाति की उत्पत्ति, किसी पीढ़ी पर जाकर उनके पूर्वजों की एकता, उनके पहले निवास स्थान, उनके स्थान-परिवर्तन का समय और उनके स्थान-परिवर्तन के सम्बन्ध की किसी घटना अथवा कारणसे सम्बन्ध रखने वाले प्रचलित विश्वासों का उल्लेख कीजिए।

[ऐसे विश्वास प्रायः सभी जातियों में मिलते हैं। सभी का उल्लेख होना आवश्यक है]

८—जाति स्थायी है अथवा घूमने फिरने वाली ? प्रान्त में क्या कोई उसका निश्चित स्थान है ? यदि वह घूमने फिरने वाली है तो उसके घूमने फिरने का प्रधान-प्रदेश कौन-सा है ? उसके स्थान परिवर्तन की अवधि निश्चित है अथवा अनिश्चित ? उनके रहने का ढङ्ग और उनकी सम्पत्ति क्या है ?

९—क्या ऐसी जाति अपने में किसी अन्य जातिवालों को मिलाते हैं ? यदि हाँ तो किन जातियों को मिलाते हैं ? किस रूप में मिलाते हैं ? उनके मिलाने की शर्तें क्या हैं ?

१०—अ—बाल-विवाह प्रचलित है अथवा प्रौढ़-विवाह ? यदि बाल-विवाह है तो लड़की का किस अवस्था तक विवाह हो जाना चाहिए ? यदि उस निश्चित अवस्था तक लड़की का विवाह नहीं होता है तो उस परिवर्तन के लिए कौन-कौन से सामाजिक दण्ड हैं ? उस अवस्था को पार करने के पश्चात् क्या उस के विवाह होने के कुछ साधन हैं ? इन जातियों के वैवाहिक संस्कारों का भी विवरण दीजिए।

आ—क्या लड़कियों का विवाह, पतियों के अभाव में वृक्षों, तलवारों आदि से होता है और क्या बाद में वे किसी मन्दिर में भेंट स्वरूप दे दीं जाती हैं ?

इ—बाल-विवाह वाली लड़की अपने पति के घर तत्काल ही भेज दी जाती है अथवा कुछ समय बाद ? यदि अपने मायके में रहती है तो किस अवस्था तक ? इस विदाई के समय क्या क्या-क्या संस्कार होते हैं ? क्या कुछ सामाजिक दण्ड-विधान उन परिवारों के लिए है जिनकी लड़कियों को पति के घर जाने से पूर्व ही मासिक होने लगता है ?

ई—समागम के लिए कोई समय निश्चित है अथवा विवाह के पश्चात् ही समागम आरम्भ हो जाता है ? बाल-विवाह किसी

अमुक जाति में अभी प्रचलित हुआ है अथवा बहुत पहले से चला आता है? यदि पहले का है तो यह कब प्रचलित हुई?

११—क्या एक ही साथ अनेक पत्नी अथवा अनेक पति रखने की प्रथा है? यदि हो तो किन शर्तों पर और किन सीमाओं तक? क्या अनेक पति भाई हो सकते हैं, या ऐसे भी हो सकते हैं जो भाई न हों?

[ऐसी प्रथा भी होती है कि एक परिवार में जो उम्र में सबसे बड़ा हो उसी का विवाह सर्व प्रथम होगा। ऐसा भी देखा जाता है कि बाल-पति की प्रौढ़ पत्नी होती है और पति का पिता उससे संबन्ध स्थापित कर लेता है]

१२—सामान्यत: वैवाहिक संस्कार क्या हैं? उनका संक्षिप्त विवरण दीजिये?

१३—क्या विधवा-विवाह समाज-सम्मत है? क्या ऐसी दशा में पति के बड़े या छोटे भाई से ही विवाह होना आवश्यक है? यदि ऐसा नहीं है तो विधवा-विवाह की अन्य शर्तें क्या हैं? किस प्रकार के विवाह-संस्कार हैं? उनका अत्यावश्यक अंश कौनसा है?

१४—तलाक किन परिस्थितियों में मान्य होता है? क्या तलाक के बाद स्त्री विवाह कर सकती है? इस अवस्था में विवाह का क्या रूप होगा? क्या इस दशा में मोल लेने की भी प्रथा है क्या?

१५—किसी अमुक जाति के सदस्य पैतृक सम्पति के अधिकार के संबन्ध में हिन्दू-नियमों को मानते हैं अथवा मुस्लिम नियमों को? क्या शुद्ध अधिकारी की जाँच करने का कोई सामाजिक विधान है? यदि हो तो उसका विवरण दीजिये।

१६—किस धर्म अथवा सम्प्रदाय से वह जाति सम्बन्ध रखती है? यदि वह हिन्दू है तो किन धार्मिक देवताओं की पूजा को महत्व देते हैं और क्यों? यदि वह प्रकृतिपूजक (Animist) है तो उसके धार्मिक विश्वास, उसकी रीति-रिवाजों का वर्णन दीजिए? क्या जादू-टोने (Magic) में उनका विश्वास है? पूरा विवरण दीजिए।

१७—उस जाति के निम्न देवताओं (Minor gods) के नामों का

उल्लेख कीजिए। उनको क्या भेंट दी जाती हैं? सप्ताह के किस दिन उनकी पूजा होती है और क्यों? किस वर्ग के लोग उस भेंट को स्वीकार करने के अधिकारी समझे जाते हैं? क्या किसी देवता या पीर की पूजा स्त्रियों और बच्चों तक ही सीमित है? क्या पूजा बिना पुरोहित के भी हो सकती है? पूजा के स्थलों (वृक्ष, पत्थर, पर्वत) का भी विवरण दीजिए? क्या बलि की प्रथा है?

१८—क्या वह जाति धार्मिक कृत्यों के लिए ब्राह्मणों को आमन्त्रित करती है? क्या इस प्रकार के ब्राह्मणों तथा अन्य ब्राह्मणों में अन्तर है? यदि ब्राह्मण यह कृत्य नहीं कराते तो और कौनसी जाति कराती है?

१९—अन्त्येष्टि क्रिया का पूरा विवरण दीजिए। मृत गाड़ा जाता है या जलाया जाता है? यदि गाड़ा जाता है तो किस प्रकार? मृत के फूल (ashes) कहाँ बहाये जाते हैं अथवा गाड़े जाते हैं? मृत्यु शोक मनाने की अवधि कब तक है? बच्चे, प्रौढ़ और वृद्ध सबके विषय में लिखिए।

२०—क्या कोई ऐसे धार्मिक कृत्य हैं जो पूर्वजों अथवा निपुत्री पूर्वजों की तृप्ति के लिए किए जाते हों अथवा उनके लिए जिनकी मृत्यु आकस्मिक हुई है? यदि हाँ तो किस प्रकार के कृत्य हैं और किस ऋतु में किए जाते हैं? श्राद्ध होते हैं क्या? स्त्री-पूर्वजों की पूजा के विषय में क्या है?

२१—वह जाति अपने आदि व्यवसायों के विषय में क्या विश्वास रखती है? किस सीमा तक उसने अन्य व्यवसायों को अपनाया है? क्या पहले व्यवसाय को छोड़ने का कारण है? उनकी कार्य-प्रणाली पर भी एक दृष्टि डालिए।

२२—यदि वे किसान हैं तो कृषि-विधान की किस स्थिति में है? ज़मीदार आदि।

२३—(अ) यदि वे कारीगर हैं तो उनका उद्योग धन्धा क्या है?
(आ) क्या शिकारी हैं?
(इ) क्या मछुए हैं? यदि हाँ तो कछुए और घड़ियाल भी पकड़ते हैं क्या?
(ई) यदि भंगी हैं तो पाख़ाना साफ करते हैं कि नहीं?

२४—भोजन सामग्री क्या है? गोश्त, शराब, बन्दर, चर्बी, आदि

खाते पीते हैं क्या ?

२५—वह सबसे छोटी जाति कौनसी है जिसके हाथों से जाति पक्का, कच्चा खाना खा सकती हो, पानी पी सकती हो और चिलम दे सकती हो ?

२६—पोशाक सम्बन्धी कोई विश्वास है क्या ? क्या कोई गहने अथवा हथियार ऐसे हैं जो उस जाति से विशेष रूप से संबद्ध हैं ? क्या कोई गंडा या जनेऊ (Sacred thread) बांधा जाता है ?

२७—और भी कुछ ज्ञातव्य बातें हैं क्या ?

(यह प्रश्न-तालिका श्री एच० एच० रिज़ले, डाइरेक्टर आव ऐथनाग्रॉफी फौर इंडिया, द्वारा प्रकाशित 'मैन्युअल आव ऐथनाग्रॉफी फौर इण्डिया' के आधार पर है)

इन प्रश्नों के उत्तर हम प्राप्त करें, उनके उत्तरग्रहण करते समय हमें अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है, साथ ही हमारा निरीक्षण भी सूक्ष्म होना चाहिए। इस प्रकार के अध्ययन से इतिहास पर समाज-विज्ञान पर असर पड़ता है। इस दृष्टि से एक अँगरेज और हिन्दुस्तानी में कोई भेद नहीं प्रतीत होता। इस तरह मानव का एक मानव के अन्दर विश्वास पैदा होता है। आज हिन्दू और मुसलमानों का जो प्रश्न चला है वह इस अध्ययन से दूर हो सकता है। इन अध्ययनों से पता चलता है कि अमेरिका में जिस प्रकार के विश्वास मिलते हैं वैसे ही हमें भारतवर्ष में भी मिलते हैं। इस तरह मालूम हुआ कि अमेरिका का मानव भी कभी भारतवर्ष के समकक्ष रहा होगा। यदि यह विश्वास मनुष्य में उत्पन्न हो जाय तो कितना मानव-कल्याण हो सकता है। इतिहास भेदों को जन्म देता है। धर्म, आचार, भेद सभ्यता का ऊपरी आवरण है। इसके अन्दर असली रूप की ओर ध्यान देने वाला लोकजीवन है। इसी के अध्ययन के लिए आप लोगों को यहाँ एकत्रित किया गया है।

आज जब हम जन-जीवन और उनकी संस्कृति के निर्माण की बात करते हैं तो सबसे पहले हमें उन रूढ़ियों के मर्म को समझ लेने की आवश्यकता है जो जानपद-जन की रग-रग में रम रही हैं, जो उनकी संस्कृति की रीढ़ हैं। तभी हम आगे बढ़ सकते हैं और निर्माण कार्य को स्थायी रूप दे सकते हैं। अब तक हम इतिहास के रूप को लेकर आगे बढ़े हैं और लोगों के सुधारने की कोशिश की है। हमारा

ढँग सुधार को आरोपित करने का रहा है। आज हमें साधारण जीवन के मार्ग से होकर आगे कदम उठाने की जरूरत है। जन-जीवन के मर्म और मानस को समझ कर उसी के अनुकूल निर्माण के आदर्शों को बनाकर उस जन को ऊपर उठाते चलने की आवश्यकता है।

संस्कृति और सभ्यता दो शब्द हैं। संस्कृति का सम्बन्ध संस्कार से है। संस्कार का अर्थ है विशेष रूप से संस्कार किया हुआ। इस संस्कार का सभ्यता के कृत्रिम और ऊपरी संस्कार से महान् अन्तर है। जिनकी हमारे बातों की निजी जीवन से घनिष्ठता है वे संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं। वही हमारे आचार की भूमि बन कर हमारी संस्कृति का निर्माण करती हैं। लोकजीवन का संस्कृति से बहुत गहरा मेल है, इन संस्कृतियों के अनेक रूप गांवों में हमें मिलते हैं।

खाना-पीना मनुष्य का धर्म नहीं यह पशु धर्म है। 'आहार निद्रा भय मैथुनानि समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।' इस तरह आगे बढ़कर मनुष्य जब औरों के लिए सहानुभूति का द्वारा खोलता है तब वह मनुष्य बनता है। मनुष्य के विकास का वास्तविक रूप संस्कार है। 'साहित्य संगीत कला विहीन: साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन :'

हमारे गाँव किसी समय अत्यन्त स्वस्थ और संस्कृत थे। गांवों की स्थापत्य कला, स्त्रियों द्वारा बनाई गयी चित्रकला, मूर्ति तथा देवताओं की मूर्तियों से जान पड़ता है कि यथार्थ संस्कृति हमारे ग्रामीण जीवन में ही थी। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन्हें उसी स्थिति में रहने देना है। आज ग्रामीण जीवन बहुत जर्जरित हो उठा है इसलिए वहां के आदमियों की ऐसी कलाओं पर से श्रद्धा हटती जा रही है, वहां की कलाओं का विकास रुकता सा जा रहा है। व्यवसायी होने के कारण मनुष्य की बुद्धि का ह्रास होता जा रहा है। जहां गांवों के लोग एकांत में बैठ कर ग्रह-नक्षत्रों का पता लगाया करते थे व्यवसायी होने के कारण इनकी ओर अब उनका ध्यान ही नहीं जाता। इसलिये आज हमें इस बात की बहुत जरूरत है कि हम गांव में जाएं और वहां की संस्कृति के केन्द्रों ग्रामों और ग्रामीणों का अध्ययन करें। उन पर जो पशुता और अज्ञान का आक्रमण हो रहा है उससे रक्षाकर उनमें बद्धमूल मानवीय धर्मों का उद्घाटन करके उस हीनता को जीतने की चेष्टा करें। इस तरह हम लोक-जीवन के अध्ययन को समझें और घर-घर उसका प्रचार करें।

ब्रज भा र ती: एक मौखिक परम्परा

[श्री देवेन्द्र सत्यार्थी]

ब्रज की सीमाएँ निश्चित करने का कार्य किसी पुरातत्ववेत्ता अन्वेषक पर छोड़ कर अभी मोटे रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि दिल्ली के दक्षिण से लेकर इटावे तक तथा अलीगढ़ से लेकर धौलपुर और ग्वालियर तक इसी जनपद का प्रसार है। ब्रज का अतीत अत्यन्त सुन्दर और गौरवमय है। इसी अतीत से सम्बन्धित इस जनपद की मौखिक परम्परा है जिसकी जड़ें धरती में है। यहां के लोकगीत इसी महामहिम मौखिक परम्परा के प्रतीक हैं। लोक कथाओं में भी इसी की रूपरेखा प्रदर्शित होती है, लोकोक्तियां तथा पहेलियां भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। बहुत से टोने-टोटके और जन्त्र-मन्त्र भी इसी में आश्रय ग्रहण करते हैं और युगयुगान्तर से चले आने वाले लोक-विश्वासों से नाता स्थिर किए हुए हैं। समूचे रूप से इस मौखिक परम्परा का अध्ययन किया जाय तो एक निष्कर्ष यह निकलता है कि एक समय था जब मानव प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। उस समय वैयक्तिक रुचि-भिन्नता के स्थान पर सामूहिक भावना का आधिपत्य था। बल्कि यह कहा जा सकता है कि उस समय मानव जीवन में संघर्ष कम था और नैसर्गिक प्रवाह अधिक। सभी जनपदों की यही अवस्था थी। एक हमारे देश ही में नहीं, समस्त संसार के देश उनके अनेक जनपद इस प्रकार के युग से गुज़र चुके हैं। हर कहीं के जीवन की पृष्ठभूमि में मौखिक परम्परा के अतीत को छूती हुई और धरती की आस्था में बँधी हुई गाथा सुन कर हम आनन्दित हो उठते हैं। इस गाथा में प्रत्येक व्यक्ति समूचे कुटुम्ब, जाति या राष्ट्र का प्रतिनिधि नज़र आता है, और सच पूछा जाय तो अतीत के इस मानव के सम्मुख आज के उन्नत युग का सिर झुकने लगता है।

मौखिक परम्परा की अनेक परतें हैं। यह अन्वेषक का कार्य है कि वह एक-एक परत का अध्ययन करे और इस के पश्चात समूचे

निष्कर्षों के आधारों पर देश की आयुष्मती आत्मा का इतिहास लिखने में सहायक बने। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक स्थान पर लिखा है: "जानपद जन के रूप में लोक के एक सद्‌त्य का जब हम दर्शन करते हैं तो हमें समझना चाहिए कि जीवन की अनेक बातें ऐसी हैं जिन में हम उसे अपना गुरु बना सकते हैं। देहरादून के सुदूर अभ्यंतर में स्थित लाखामंडल गांव के परमा बढ़ई से जो सामग्री हमें प्राप्त हुई वह किसी भी प्रकाशित पुस्तक से नहीं मिल सकती थी। जौंसार बाबर के उस छोटे गाँव के शिव-मंदिर के आँगन में खड़े हो कर हमारे मित्र पं० माधवस्वरूप जी वत्स सुपरिंटेंडेंट आफ आर्किओलाजी, आगरा, जिस समय भोली भाली जौंसारी स्त्रियों के मुख से दूबड़ी आठैं (भाद्रपद शुल्क अष्टमी) के त्यौहार का, और अवसर पर छामड़ा पेड़ की डालों से बनाये जाने वाले आदम कद दानव का, जिसे वहाँ 'छामड़िया दानौं' कहते हैं, हाल सुनने लगे तो उन्हें आश्चर्य चकित हो जाना पड़ा कि इस दूबड़ी की पूजा में मातृत्व-शक्ति की पूजा की वही परम्परा पाई जाती है जो उन्हें हरप्पा की मूर्तियों में मिली थी। इसी जौंसार प्रदेश की चिया बिया प्रथा (बिया = जेठे भाई के साथ स्त्री का विवाह; चिया = अन्य छोटे भाइयों का उसके साथ पत्नीवत् व्यवहार) के विषय में और अधिक जानने की किसे इच्छा या उत्सुकता न होगी? ये और इन जैसे अनेक विषय लोकोवार्त्ता के अन्तर्गत आते हैं, जिनका वैज्ञानिक पद्धति से संकलन और अध्ययन अपेक्षित है।" १

'लोकवार्ता' शब्द नया नहीं। परन्तु इसका वर्तमान प्रयोग अवश्य नया है। इसके लिये हम श्री कृष्णानन्द गुप्त के ऋणी रहेंगे जिनके परिश्रम से बुन्देलखड में लोकवार्ता-परिषद स्थापित हो चुकी है और जिनके सम्पादकत्व में 'लोकवार्ता' पत्रिका एक देशव्यापी कमी को पूरा कर रही है। ब्रज-साहित्य मंडल की मुख्य पत्रिका 'ब्रज भारती' भी लोकवार्ता के अध्ययन में बहुत सहयोग दे सकती है। लोकवार्ता शब्द अँग्रेजी के 'फोकलोर' से कहीं अधिक अर्थ पूर्ण है। जनता जो कुछ युग-युग से कहती और सुनती आई है, अर्थात्, मौखिक परम्परा की समूची सामग्री, वह सब लोकवार्ता के अन्तर्गत आ जाती है।

१. लोकवार्ता शास्त्रः लोकवार्ता। जून १९४४, पृ० ७-९

लोकवार्ता केवल अतीत की वस्तु हो, यह बात नहीं। अतीत से लेकर अब तक की समस्त बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक और सामाजिक गति-विधि का सम्पूर्ण इतिहास लोकवार्ता में निहित रहता है। इसके बिना देश के वास्तविक इतिहास का निर्माण असम्भव है।

विदेशों में लोकवार्ता का नृ शास्त्र, समाज शास्त्र, भाषा-शास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान और पुरातत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। यूरोप के प्रत्येक छोटे-बड़े राष्ट्र की अपनी लोकवार्ता-परिषद् है। अनेक अन्वेषकों और विद्वानों ने इस दिशा में महान कार्य किया है। एंड्रयू लैंग, ग्राण्ट एलन, मैक्समूलर और हर्बट स्पेंसर से लेकर प्रोफेसर वेस्टरमार्क, सर जे० जी० फ्रेज़र और सर जी० एल० गोमे जैसे विद्वान महान अन्वेषण करते आ रहे हैं। अकेले फ्रेजर का 'गोल्डन बाउ' ग्रन्थ जिसे इस विषय की 'बाइबिल' कहा जा सकता है, बारह मोटी-मोटी जिल्दों में शेष हुआ है, और इस ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण जिसके बड़े आकार के ७५२ पृष्ठ हैं, इस विषय के प्रत्येक विद्यार्थी के हाथों में होना चाहिए। यूरोप की अनेक भाषाओं में इस ग्रन्थ के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। यदि कोई संस्था इस के संक्षिप्त संस्करण ही का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का भार अपने जिम्मे लेले तो इसकी पहुँच उन विद्यार्थियों और विद्वानों तक सम्भव हो सकती है जो अंग्रेजी से अनभिज्ञ हैं।

हमारे देश में टेम्पल और ग्रीयरसन के पश्चात अब विलियम जी० आर्चर और वैरियर एलविन ने मौखिक परम्परा के संकलन तथा वैज्ञानिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया है। इनकी प्रेरणा से विशेषतया हमारे लोकगीत आन्दोलन को शक्ति प्राप्त हुई है, हिन्दी में श्री रामनरेश त्रिपाठी के यत्नशील उद्योग से ग्रामगीत संग्रह तथा प्रकाशन की नींव पड़ी, और उनके इस कार्य के सम्बन्ध में एक आलोचक की सम्मति से मैं पूर्णतया सहमत हूँ कि न्यायपूर्वक हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि इस दिशा में उनका प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है, और भविष्य में वे अपनी अन्य रचनाओं की अपेक्षा कविताकौमुदी पाँचवे भाग के द्वारा ही भावी जनता के श्रद्धा भाजन बनेंगे।

परन्तु त्रिपाठी जी से कुछ लोगों को यह शिकायत रही कि

उन्होंने अपने संग्रह में बुन्देलखण्ड और ब्रज के गीतों को स्थान नहीं दिया। मैं यह कभी नहीं मान सकता कि त्रिपाठी जी ने जान-बूझ कर इन दोनों जनपदों के प्रति उपेक्षा दिखाने की भूल की है। अतः मैं इसे अनुदारता ही कहूँगा कि किसी ग्रन्थ की आलोचना करते समय निजी पक्षपात को बीच में ले आयें। बहुत से अन्य जनपद भी तो ऐसे हैं जिनके गीतों को वे अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दे पाये। परन्तु यह दोष या कमी दिखाकर कोई उनके कार्य की महानता और पथ-प्रदर्शन से तो इनकार नहीं कर सकता।

ब्रज की लोक-कविता की प्रशंसा मैंने पहले-पहल सन् १६३२ में बनारसीदासजी चतुर्वेदी और श्रीराम शर्मा से सुनी। इसके दो वर्ष पश्चात् चतुर्वेदीजी ने अनुरोध किया कि मुझे ब्रज-यात्रा के लिये तुरन्त चल देना चाहिए। परन्तु मैं काश्मीर और सीमाप्रान्त की यात्रा पर चल पड़ा। उधर से लौटा तो मेरे पाँव मुझे गुजरात और राजस्थान की ओर ले गये। सन् १६३७ में फिर चतुर्वेदीजी ने ब्रज-यात्रा का ध्यान दिलाया और यहाँ तक कह दिया कि यदि मैंने ब्रज की अधिक अवहेलना की तो वे लिखकर इसकी कड़ी आलोचना करेंगे। यद्यपि मुझे इस बात का एतराफ़ करने से कुछ संकोच नहीं कि मैं एक ब्राह्मण के शाप के भय से ब्रज में पहुँचा था, परन्तु इसे भी कदाचित् किसी देवता का प्रसाद ही समझना चाहिए कि पहली ही यात्रा में मेरी दो सज्जनों से भेंट हुई जिनके हृदय और मस्तिष्क में ब्रज की मौखिक परम्परा के लिए अगाध आस्था और चेतना देखने में आई। मेरा संकेत श्री वासुदेवशरण अग्रवाल तथा श्री सत्येन्द्र की ओर है, जिनके सहयोग से इस जनपद में कई केन्द्रों में रहकर मैंने ब्रजभारती की सङ्गीतमय वाणी सुनी और ब्रज की संस्कृति के प्रतीक बहुत से लोक-गीत स्त्रियों और पुरुषों के मुख से सुन-सुन कर ज्यों के त्यों लिख डाले। अगले वर्ष सन् १६३८ में मैं फिर ब्रज में पहुँचा, और इस बार फिर इन दोनों मित्रों के सम्पर्क से अपने अध्ययन को अधिक गहरा करने के अवसर प्राप्त हुए। इस बार श्री सत्येन्द्रजी की पत्नी द्वारा संग्रहीत कुछ सुन्दर और उपयोगी गीत मुझे मिल गये। यह सुनकर मुझे बहुत खेद हुआ कि इस देवी का देहावसान हो चुका है। अतः उसके ऋण से उऋण होने का कोई उपाय न देखकर मैं केवल उसकी

आत्मा को बारम्बार प्रणाम कर सकता हूँ।

ब्रज की अपनी दोनों यात्राओं के पश्चात् मैं इच्छा रहने पर भी फिर से इस जनपद के ग्रामों में नहीं घूम सका। कई बार सोचा कि अपने अध्ययन की कुछ बातें लिखकर ब्रजभारती के सम्मुख दो पुष्प चढ़ाऊँ। परन्तु मैं जब भी इन गीतों को खोलकर बैठा तो इनके रसास्वादन तथा वैज्ञानिक अध्ययन में इतना खो गया कि मैंने यही अच्छा समझा कि थोड़ा और रुक जाऊँ ताकि इस आयुष्मान और पुष्कल मौखिक परम्परा की सामग्री का समुचित परिचय कराने योग्य हो सकूँ।

इस बीच में श्री वासुदेवशरण और श्री सत्येन्द्रजी से कई बार भेंट हुई। सत्येन्द्रजी ने ब्रजभारती के सफल सम्पादकत्व के अतिरिक्त इस जनपद की लोकवार्ता और विशेषतया यहाँ के गीतों के वैज्ञानिक संकुलन का जो आन्दोलन चला रखा है, उसके समाचार सुनकर मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ और वासुदेवशरणजी ने अपनी लेखनी द्वारा मातृभूमि के लोक-जीवन तथा लोकवार्ता की वास्तविक महत्ता कुछ इस ढङ्ग से प्रदर्शित की है कि इसके द्वारा मेरे सम्मुख एक नया तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश आता चला गया। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है—जितनी बड़ी पृथिवी है उतनी ही बड़ी वेदि है। इस परिभाषा का अर्थ यह है कि जितना भी विश्व का विस्तार है उसका कोई अंश ऐसा नहीं है जो मनुष्य के लिए काम का न हो अर्थात जो मानवी यज्ञ की परिधि से बाहर हो। जो यज्ञ की वेदि में आ जाता है, वही यज्ञीय या मेध्य होता है, वही मनुष्य के केन्द्र के अन्तर्गत आ जाता है....जो कुछ उस वेदि के खम्बे से नहीं बांधा जा सका वह अमेध्य होता है। हम एक जीवन में जो यज्ञ का खम्बा खड़ा करते हैं जो कुछ उस खम्बे से नहीं बांधा गया वह उस जीवन के लिए उपयोगी नहीं बन पाता। यज्ञ से जो बहिर्भूत है उसे यज्ञ के अन्तर्गत लेने का प्रयत्न जन्म जन्मान्तर में चलता रहता है। लोकजीवन के अपरिमित विस्तार को हमारा बारम्बार प्रणाम है........जितना लोकजीवन उतना ही विशाल तो मानव है। मानव के बाहर लोक में कुछ भी शेष नहीं रहता। अथवा जैसा वेदव्यास ने महाभारत में बड़े

उदार शब्दों में कहा—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ।

अर्थात् रहस्य ज्ञान की एक कुंजी तुम्हें बताता हूँ कि इस लोक में मनुष्य से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। इस सूत्र में लोकजीवन और सभी तरह के ज्ञान का मूल्य आँक दिया गया है। मनुष्य से सब नीचे है, मनुष्य सबसे बढ़कर है। जो ज्ञान मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं वह दो कौड़ी का है। लोकवार्त्ता-शास्त्र भी यदि वैज्ञानिक के शुष्क कुतूहल के लिए हो तो वह जीवन के लिए अनुपयोगी ही रहता है। मानव के प्रति सहानुभूति और मानव के कल्याण की भावना लोकवार्त्ता-शास्त्र को सरलता प्रदान करती है। लोक-वार्त्ता-शास्त्र की प्रतिष्ठा अन्ततोगत्वा मानव-जीवन के प्रति नई प्रतिष्ठा के भाव की स्वीकृति है। भारत जैसे देश में जहाँ लोकवार्त्ता और लोकजीवन बहुत ही शांतिपूर्ण सहयोग और निर्विरोध आदान प्रदान के द्वारा फूला फला है, लोकवार्त्ता-शास्त्र का बड़ा विस्तृत क्षेत्र है। कौनसा विश्वास कहाँ से उत्पन्न हुआ, बीज रूप से जन्म लेकर मस्तिष्क और मन का कौन सा भाव वटवृक्ष की तरह चारों खूंटों की भूमि को दबा बैठा है, विकास परम्परा में कौन कहाँ से कहाँ पहुँच गया है, इन सब का विश्लेषण बहुत ही महत्वपूर्ण होगा। क्योंकि वह अनेक प्रकार से एक ही प्रधान तत्व की विजय को सूचित करता है, और वह महान् धार्मिक तत्व मनुष्य का मनुष्य के लिए सहिष्णुता का भाव है। बनोंके निषाद और शबरों के प्रति भी हिन्दुधर्म ने सदा सहिष्णुता की आरती सजाई है........चतुर्दिक जीवन के साथ सहानुभूति और सहिष्णुता का भाव इसकी विशेषता रही है। आज का हिन्दु धर्म भारतवर्ष के महाकान्तार दंडकारण्य की तरह ही विशाल और गम्भीर है जिसमें अपरिमित जीवन के प्रतीक एक दूसरे के साथ गुथ कर किलोल करते रहे हैं।" १

धरती मानव की जननी है। उसकी बांहें अगाध प्रेम और सहानुभूति की प्रतीक हैं। इसी मिट्टी से अन्न उगता है जो मानव को जीवित रखता है। धरती माता की कल्पना, अन्य भारतीय लोकगीतों ही की भाँति ब्रज की भी विशेषता है। मथुरा से तीन मील

१। 'महामहिम लोकजीवन' लोकवार्त्ता, जनवरी १९४६, पृ० ६४–६६

की दूरी पर महोली ग्राम में सुना हुआ गीत, जिसका बोआई के समय मन्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है, अत्यन्त स्थानीय वस्तु होते हुए भी सार्व भौमिकता के स्तर तक उभरता दिखाई देता है:

धरती माता ने हरथौ करथौ
गऊ के जाये ने हरथौ करथौ।
जीव जन्त के भाग ने हरथौ करथौ,
महोली खेड़े ने हरथौ करथौ।
गंगा माई ने हरथौ करथौ,
जमुना रानी ने हरथौ करथौ।
धना भगत को हर ते हेत,
बिना बीज उपजायो खेत।
बीज बच्यौ सो सन्तन खायौ,
घर भर आँगन भरथौ।

यह गीत लिखाने वाले वयोवृद्ध किसान ने बताया था कि इस जनपद में बांस का पोरा जिस में से बोआई करते समय बीज डालते जाते हैं, योन्ना कहलाता है, बीज हमेशा चक्करदार गोलाई में डाला जाता है। एक चक्कर को 'फरा' कहते हैं, और एक चक्कर जिसके अन्तर्गत जलेबी की भाँति कई बड़े छोटे कुंडलाकार चक्कर डाले जाते हैं, कुंड के नाम से पुकारा जाता है। 'कुंड' के अन्तर्गत अन्तिम 'कुंड' के रूप में बीज डालते समय विशेष रूप से इस गीत का महत्व माना जाता है। युग-युग से बैल के कन्धे पर अन्न उगाने का भार है। 'गंगा माई' और 'जमुना रानी' की कृपा भी आवश्यक है, यों प्रतीत होता है कि गीत की अन्तिम पंक्ति से पहले की तीन पंक्तियाँ जिनमें धना भगत का जिक्र किया गया है, बाद में जोड़ दी गई हैं। यह बात याद रखने की है, लोकगीत का रूप बदलता रहता है। ज्येष्ठ और आषाढ़ में समस्त जनपद में यह 'रसिया' गूँज उठता है।

'आयो जेठ आषाढ़ बन बोय दे रे सिपाहिरा'

कपास के लिये 'बन' शब्द का प्रयोग बहुत पुराने समय की याद दिलाता है। सिपाही से कपास बोने की बात क्यों कही जा रही है ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ यों दिया जा सकता है कि 'रसिया' की परम्परा उस समय का स्मरण कराती है जब एक प्रकार से प्रत्येक

किसान सिपाही समझा जाता था क्योंकि आक्रमणकारियों से युद्ध करने के लिए राज्य को किसी भी समय नई सेना की आवश्यकता पड़ सकती थी अतः किसान को इतनी भी आशा नहीं होती थी कि जो फसल वह आज अपने हाथों से बो रहा है, पकने पर वह उसे काट भी सकेगा।

जैसे आक्रमणकारी किसी देश पर धावा बोल देते हैं, ऐसे ही किसान की सम्पत्ति पर टिड्डीदल आक्रमण करता है, और उस समय यदि पति परदेश में हो तो पत्नी बेचारी क्या कर सकती है? इसी विपत्ति का एक सजीव चित्र देखिए :—

टीड़ी खाय गई बन कौ पत्ता, मेरौ बलम गयौ कलकत्ता।
टीड़ी आई जोर जुल्म सो, घर में रह्यो न लत्ता॥
भैया मेर बन्द मेरो रोकन लागे, नेंक न छोड़यो रस्ता। टीड़ी आई,
लोग लुगाई देखन लागे, ऊपर चढ़ कैं अट्टा, टीड़ी आई।
रोटी पानी कछू न कीनी, भूल गई सब रस्ता। टीड़ी आई....

कलकत्ते के जिक्र से इतना तो प्रत्यक्ष है कि इस गीत की आयु एक आध शताब्दी से अधिक नहीं हो सकती। यह भी संभव है कि कलकत्ते का जिक्र पुराने गीत पर पैवन्द के रूप में लगा दिया गया हो, जैसा कि मौखिक परम्परा की सामग्री में और भी अनेक स्थानों पर देखने में आया है। यह एक नारी की व्यथा का चित्र नहीं, यहां समस्त जनपद का कष्ट अभिव्यक्त हुआ है। नारी टिड्डीदल से कपास का खेत बचाने की चेष्टा करती है परन्तु विरादरी के अन्य लोग उसका रास्ता रोक कर खड़े हो जाते हैं। स्त्रियां अपने अपने कोठे पर चढ़ कर इस मृत्यु के बादल का निरीक्षण कर रही हैं। टिड्डीदल का जोर जुल्म रोकने का उपाय किसी की समझ में नहीं आता। इस वेदना में एक सांकेतिक वेदना है जो नायिका की पुकार को समूचे वर्ग की पुकार का रूप दे देती है।

रूस की एक आख्यायिका है कि जब भगवान ने उपहार बांटे तो उन्होंने यूक्रेन निवासियों को बिल्कुल भुला दिया और अन्त में उन्होंने यूक्रेन-निवासियों को संगीत का उपहार देकर खुश किया। इसीलिये कहा जाता है कि यूक्रेनी लोकगीत जर्मन लोकगीतों से कहीं अधिक गहरे और रूसी गीतों से कहीं अधिक मधुर होते हैं, यदि

ब्रज-निवासी चाहें तो इसी से मिलती जुलती आख्यायिका की सृष्टि कर सकते हैं, क्योंकि ब्रज के लोक गीतों में दोनों गुण यथेष्ट मात्रा में नजर आते हैं, इनमें भावों की गहराई भी है और संगीत का माधुर्य भी। 'झूला रे झूलत नागन डस गई' यह एक स्त्री-गीत की टेक है जिसे युवतियाँ झूले की रस्सियों को हवा में उछालते हुए मधुर लय में गाया करती हैं।

गूलरिया झुक झालरी, गूलर रहे गदकार,
झूला रे झूलत नागन डस गई।
डस गई उँगली के बीच,
झूला रे झूलत नागन डस गई।
ससुर ते कहिओ मोरी बीनती,
सास ते सात सलाम।
झूला रे झूलत नागन डस गई।
वा हर हारे ते नियों कहिओ,
तेरी धन खाई काले नाग।
झूला रे झूलत नागन डस गई।
हर तो छोड़यौ खेत में,
म्वांई ते खाई आ पछार।
झूला रे झूलत नागन डस गई।
कां लाऊँ तो को बायगी,
कां लाऊँ बैद हकीम।
झूला रे झूलत नागन डस गई,
दिल्ली ते लाऊँ तो को बायगी,
मथुरा ते लाऊँ वैद हकीम,
झूला रे झूलत नागन डस गई।

गीत का मर्म स्थल वही है जहाँ किसान को यह समाचार मिलता है कि गूलर के पेड़ पर झूला झूलती उसकी पत्नी को नागिन ने काट खाया है और वह हल छोड़ कर उसकी चिकित्सा की चिन्ता में मथुरा और दिल्ली तक हो आता है। यह नहीं बताया गया कि यह झूले की नायिका बच गई या प्राण छोड़ गई। यह कल्पना की जा सकती है कि यह कोई साधारण स्त्री नहीं होगी और पहली बार

ससुराल आने पर उसके हृदय से भी यह गीत फूट निकला होगा—

रवादार ककना को मेरे पहरे ?
बेर बेर काकी, बेर बेर दादी को मेरे टेरे ?

ग्रामों में ऐसी कल्पनाशील युवतियाँ अब भी मिल जाँयगी जो पायल का यह महत्व समझती हों कि इसकी झंकार सुन कर ससुराल में सास स्वयं द्वारा तक चली जायगी और कहेगी—आगई, बहू और इस प्रकार बहू को बाहर से पति की काकी या दादी को आवाज़ दे कर अपने आगमन की सूचना देने का कष्ट नहीं करना पड़ेगा।

इसी सजीव कल्पना के जादू से घर के कच्चे कोठे में 'रंगली रावटी' और हलवाहे पति में 'आलीजां' का स्वप्न देखने की चेष्टा की जाती है। यह भी समझ लिया जाता है कि चाँदनी रात के समय भी जब कि कमखर्ची के विचार से साधारण तेल का दिया भी बुझा दिया जाता है, 'तेल फुलेल' का दीया जल रहा है:

चन्दा की निरमल रात, एजी कोई आलीजा बुलावैं
रंगली रावटी जी महाराज
मैं कैसे आऊं महाराज एजी कोई आड़ी तो सोवै त्यारी मायलीजी महाराज
जरि रह्यौ तेल फुलेल एजी कोई सबरी रैन दिबला बलै जी महाराज
चलीऊं बाबल के देस एजी कोई घड़ा तो भरा दऊं तेल फुलेल
को जी महाराज।

यह तो प्रत्यक्ष है कि इस कल्पना का मध्यकालीन जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी कहा जा सकता है कि लोकगीत केवल निम्न वर्ग ही की बपौती नहीं मध्यवर्ग की भी प्रिय वस्तु है क्योंकि यहां उनके जीवन के सजीव चित्र भी सुरक्षित हैं। 'विजयरानी का गीत' मध्यवर्ग के जीवन का प्रतीक है:

चार बुर्ज चारों ओर बीच अटरिया ए विजैरानी ईंट की जी।
हात दिबल सिर सौर धमकि अटरिया ए बिजैरानी चढ़ गई जी॥
खोलो राजा बजर केबार भीजे ए राजा त्यारी गोरड़ी जी।
नाएं खोलूं बजर केबार पराए पुरख ते ए डावर नैनी चौं हँसी जी॥
आई धन तन मन मार मरख कैं बैठी ए बिजैरानी देहरी जी।
लौहरी ननद बूझै बात आज अनमनी ए बिजैरानी चौं भई जी॥

त्यारौ भइआ असल गँवार कदर न जानी ए बिजैरानी के जीअ की जी
करौ भाबी सोलेहुँ सिंगार पटिया तो पारौ चोखे मोम की जी।
हाथ दिबल सिर सौर धमकि अटरिया ए बिजैरानी चढ़ गई जी ॥
खोलो भइया बजर कैबार बाहर भीजै ए बिरन क त्यारी गोरड़ी जी।
भीजै भीजन चौं न देउ पराए पुरस ते ए बिजैरानी चौं हँसी जी ॥
जाको भइया हँसनौ सुभाव हाँसिबौ तो जायगो ए बिजैरानी ढक लईजी।
रोई धन हीअरा हिलोर आँसू तो पौंछे ए भँवर सूए पेंचते जी ॥
जीऔ लाली त्यारो बीर भँवर मिलाओ ए ननद रानी तैं कियो जी।
दउँगी लाली दक्खनौ चीर गिरी ए छुहारो ए ननद त्यारे मुख भरूँ जी ॥

गीत की भाषा में एक स्थान पर 'डाबरनैनी' प्रयोग मिलता है जिस का अर्थ है 'बड़ी बड़ी आँखों वाली'। एक सज्जन के कथनानुसार 'डाबरा' शब्द का अर्थ होता है 'बड़ा दोना' और डाबर नैनी का 'डाबर' शब्द इसी 'डबरा' का दूसरा रूप है। कुछ भी हो 'डाबर नैनी' इस जनपद के लोकगीतों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। यदि विजयरानी 'डाबर नैनी' अर्थात् लोक-परम्परा के अनुसार असाधारण सुन्दरी न होती तो उसके पति ने बिरादरी के किसी अन्य पुरुष से हँसते देख कर उसके चरित्र पर सन्देह न किया होता। इसी मनोमालिन्य के कारण वह विजयरानी को हाथ में दिया थामें आते देख कर 'बजर केवार' बन्द कर लेता है। भला हो विजयरानी की ननद का जिसने अपने भैया को समझाया कि विजयरानी निर्दोष है क्योंकि हँसकर बोलना डाबरनैनी के स्वभाव में सम्मिलित है। झट 'बजर-केबार' खोले जाते हैं और विजयरानी अपने पति से मिल सकती है और ननद को पहनने के लिए दक्खिण का चीर और खाने के लिए गिरी छुआरे पुरुष्कार-स्वरूप देने की बात सोच रही है।

सामाजिक परिस्थितियों की पड़ताल में लोकगीत पग-पग पर हमारा साथ देते हैं। अब एक और प्रसङ्ग लीजिये जो उत्तर-भारत के अनेक जनपदों के लोकगीतों में मिलता है। पति एक साधारण 'बटाऊ' या बटोही के वेष में अपने ग्राम के समीप अपनी पत्नी के सत की परीक्षा लेने का यत्न करता है—

बर के गोदे झूलती, रे बटाऊ ढोला, सात सहेलिन बीच।
सातौन के मुख ऊजरे, मेरी डाबर नैनी, त्यारौ चौं रे मैलौ भेस ॥

सातौन के ढोला घर रहे, रे बटाऊ ढोला, हमरे गये परदेस ।
संग चलौ तौ ले चलूँ, मेरी डाबर नैनी, चलौ न हमारे साथ ॥
सोने सौं कर दें उँ पीयरी, मेरी डाबर नैनी, चाँदी सों सेत सुपेत ।
आगि लगाऊँ तेरे पीयरी, रे बटाऊ ढोला, मौंछन बड़ौ रे अँगार ।
डाढ़ी तो जारूँ तेरे बाप की, रे बटाऊ ढोला, जरिजईयौ सेत सुपेत ।
जिन पीयन के रे हम गोरड़ी, रे बटाऊ ढोला, तुमसे भरें कहार ॥
एक बटाऊ ढोला नियों कहे, मेरी सासुल रानी, चलो न हमारे साथ ।
कैसे तो विनके कापड़े, मेरी बहुअल रानी, कैसी सूरत उनहार ॥
धौरे तो बिन के कापड़े, मेरी सासुल रानी, लौहरे दिवर उनहार ।
वेही तुमारे सायबा, मेरी बहुअल रानी, गई चौं न बिन के साथ ॥
भाजूँ तौ पहुँचूँ नहीं, मेरी सासुल रानी, हेला देते आवे लाज ॥

इस गीत में 'डाबर नैनी' अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोग प्रतीत होता है। 'डाबर' उस नीची जमीन को कहते हैं जहाँ पानी ठहरा रहे। तुलसीदास ने एक स्थान पर लिखा है 'भूमि परत भा डाबर पानी, जिम जीवहि माया लपटानी।' किन्तु डाबर नैनी या डाबर जैसी बड़ी बड़ी आंखों वाली सुन्दरी का प्रयोग एक नये चित्र की सृष्टि करता है, और हमें पीयरे लूई की 'अफ्रोडाइट' याद आती है जिसमें हिन्दुस्तानी गुलाम कन्या जलंतशाचन्द्रा क्राइसिस की सुन्दरता का बखान करते हुए कहती है : 'तेरे केश मधुमक्खियों के झुण्ड के समान हैं जो किसी बड़े वृक्ष की टहनियों से उलझ गई हों। और तेरी आँखें ऐसी गहरी झीलें हैं जिन पर वेदमुश्क की टहनियाँ झुकी हुई हों।' 'डाबर नैनी' कहकर ब्रज के लोक-मानस ने इस से मिलती जुलती छवि चित्रित की है। जिन्होंने अजन्ता के चित्र देखे हैं वे कह सकते हैं कि भिक्षु चित्रकारों ने डाबर नैनी नारी ही को पग पग पर उपस्थित किया है। डाबर नैनी नारियों की आज भी ब्रज के ग्रामों में कुछ कमी नहीं। बड़ी बड़ी आँखें, जिन में आर्द्रता की यथेष्ट मात्रा उपस्थित हो, लोक कवि के लिए आज भी प्रेरणा की वस्तु हैं।

ब्रज की 'डाबर नैनी' की बहिनें गढ़वाल में भी मिलेंगी जिन के सत की परीक्षा के गीत बड़े अनुराग से गाये जाते हैं। रामी का गीत इस तरह आरम्भ होता है।

बाट गोड़ाई कख तेरो गांऊ
बोल बौराणि क्या तेरो नांऊ
घाम दोफरा अब होईं गैगे,
एकली नारी तू खेत रैगे।
धुर जेठाणा तेरा कख छीन
तौंकी जनानी कख गई गीन

अर्थात हे रास्ते के खेत में निराई करने वाली, तेरा ग्राम कहां है। बोल, बहू रानी तेरा क्या नाम है। अब दोपहर का घाम हो गया। तू अकेली नारी खेत में रह गई। तेरे देवर और जेठ कहां हैं। उनकी पत्नियां कहां चली गईं।

गढ़वाली गीत काफी लम्बा है। इसी का एक रूपान्तर कुमायूँ में भी प्रचलित है, जिस में रामी के स्थान पर रूप का परिचय प्राप्त होता है, कमायूंनी गीत का आरम्भ देखिये:—

बाटा में की सेरी रुपा वै यकली वय धान गोडे
यकली मैं हुँलो बटवा दुकली कै लौंलो हौ
कथ गया त्यरा रुपा द्यौराणी ज्यठाणी वै
कथ गया त्यरा द्यवर ज्यठाणा हो
कथ कई तेरी रुपा वै ननद पौणी हो
कां कई त्यरा रुपा वै सासु सौरा हो

अर्थात् रास्ते के निकट के खेत में, हे रुपा, तू क्यों अकेली धान निराती है। हे पथिक, मैं तो अकेली ही हूँ। अपने साथ किसे लाऊँ। रुपा, तेरी देवरानी जेठानी कहाँ गई, तेरे देवर जेठ कहाँ गये ? रूपा, तेरी ननद और पौणी (पति की बड़ी बहिन) कहाँ गई ? रूपा, तेरे सास ससुर कहां गये ?

यह गीत भी लम्बा है। इसी श्रेणी के एक पंजाबी लोकगीत का आरम्भ इस प्रकार हुआ है :—

खूह ते पानी मेरंदिए घुट कु पानी पिया
आपणा ते भरिया वारी न दियाँ लज्ज पई भर पी
लज्ज तेरी नूं घुंघरु गोरिए हथ्थ लावाँ झड़ जा
हेठ दा घोड़ा मर जाय काठी रह जाय हथ्थ

घर जांदियाँ नूँ पियो मारे वे बीबा पै जाँय सिपाहियाँ दे हत्थ
सिर दी झज्जरी भज्ज पये गोरिए इंजू रह जाय हत्थ
घर जाँदियाँ नूँ माँ मारे गोरिए पै जाँय साडे वस्स

अर्थात् हे कूँए पर पानी भरने वाली, एक घूँट पानी मुझे भी पिला……अपना भरा हुआ पानी मैं नहीं दूँगी। लेजुर पड़ी है। स्वयं पानी भरो और पी लो……तेरी लेजुर को घुँघरू लगे हैं। मेरे हाथ लगाने से ये घुँघरू गिर जाँयगे……भगवान् करे तेरे नीचे का घोड़ा मर जाय, और इसकी काठी तेरे हाथ में रह जाय……भगवान करे घर पहुँचने पर तेरा पिता तुझे मारे और तू सिपाहियों के काबू आजाय……तेरे सिर की मटकी टूट जाय, हे गोरी, और ईंडरी तेरे हाथ में रह जाय। घर पहुँचने पर तुझे तेरी माँ मारे और तू मेरे काबू आ जाय……

इस गीत के अगले भाग का अनुवाद इस प्रकार है—
घर आने पर माँ पूछती—साँझ होगई, तू कहाँ से आई है।
माँ, एक लम्बे कद का युवक था, वह मुझ से विवाद करने लगा।
तेरे पिता का जामाता, हे पुत्री, और तेरे सिर का सरदार।
सहेलिओं से मिलकर पूछती है, रूठे प्रियतम को कैसे मनाऊँ।
हाथ में दूध का कटोरा लो और सोये हुए प्रियतम को जगाओ।
तुम सोये हो या जागते हो या बाज़ार चले गये हो।
न मैं सोता हूँ न जागता, न बाज़ार गया हूँ, तुम कुयें के बोल सुनाओ।
छोटी आयु में भूल हो गई, प्रियतम, अब तो मन से भुला दो।
शाबाश तेरी बुद्धि को, हे गोरी, धन्य है तुझे जन्म देने वाली माँ।
तेरे लिए मैं मनौतियाँ माँगती हूँ, प्रियतम, मेरे लिए तेरी माता।

ब्रज के गीत और पञ्जाबी गीत की तुलना करने से पहले यह अच्छा होगा कि गढ़वाली और कुमायूँनी गीतों के पूरे अनुवाद हमारे सम्मुख आ जाँय—

रास्ते के खेत में निराई करने वाली, तेरा ग्राम कहाँ है।
बोल, बहू रानी, तेरा क्या नाम है।
अब दोपहर का घाम हो गया।
तू अकेली नारी खेत में रह गई।

तेरे देवर और जेठ कहाँ हैं ?
उनकी पत्नियाँ कहाँ चली गईं ?
आज तेरा स्वामी कहाँ है ?
सास ससुर क्या काम कर रहे हैं ?
बोलो तुम किस अनाज की निराई कर रही हो ?
बहू रानी, अपनी जुबान खोलो।
बटोही जोगी, तुम यह मुझ से क्यों पूछते हो
तुम किसको पूछते हो, तुम्हें क्या चाहिए
मैं रात की बेटी हूँ, मेरा नाम है रामी।
सेठों की बहू हूँ, मेरा गांव है पाली।
मेरे जेठ कचहरी गये हैं
देवर भैंसें चरा रहे हैं
देवरानी मायके गई है
जेठानी को आज ज्वर आ गया
मेरी सास घर पर रह गई
अब स्वामी की याद आने लगी
आंखों से पानी बह निकला
मेरा स्वामी मुझे घर पर छोड़ गया
मुझ पर वह निर्दयी हो गया;
उन के लिए घर में कहाँ स्थान
जिन के लिए स्वामी का विच्छेद हो गया
जाओ, जोगी, अपना रास्ता लो
मेरे शरीर में आग न लगाओ
वह रोने बैठ गई, स्वामी याद आने लगे
हाथ की कुटली* छूट गई
सावन के मेघ की तरह हृदय भर आया
हे स्वामी, मेरा तो गला, रुंधा जा रहा है
चलो, बहू रानी, छाया में बैठ जाँय
अपना दुःख मुझे सुना
अब दोपहर का घाम हो गया

---

* निराई करने का औजार।

समस्त खेत में छाया ढल कर चली गई
नारी, तू क्यों इस प्रकार रोती है
क्यों व्यर्थ अपना यौवन खोती है
एक बोल तो बोल दिया, दूसरा न बोलना
पापी जोगी, जुबान न खोल
तेरे साथ तेरी बहिनें बैठेंगी
पतिव्रता नारी तुझे चेतावनी देती है
अखंड विधवा की भांति तू दुःख सहे
ओ जोगी, मैं तुझे शाप दे रही हूँ
राजा की बहू रानी, गाली न दे
मैंने तेरा क्या खाया है कि मुझे शाप दे रही है
रामी, मुझे गांव का रास्ता बतायो
मन के क्रोध को थाम लो
मुझे बहुत भूख लगी है
सयाना रावत कहाँ रहता है
रमता जोगी रास्ते पर चला गया
रामी के मन में क्रोध आ गया
हे स्वामी, पिछली रात तुम स्वप्न में आये
तुम मेरी अवस्था देख कर चले गये
आज के दिन मेरे पास
खास मेरे डेरे पर आने को कहा था
क्या मेरा स्वप्न झूठा हो गया
क्या मेरा स्वामी परदेस में ही रह गया
मुझे तो कहा था कि मैं घर आऊंगा
मेरे स्वामी ने कहा था—मैं दौड़ कर आऊंगा
गांव में जाकर जोगी ने अलख जगाई
माई, मुझे भिक्षा दो
माई, मैं कल रात से भूखा हूँ
मेरे लिए सूखा सीधा (बिना पका हुआ अन्न) न लाना
मुझे भात और साग देना
नहीं तो तुम्हें पाप लगेगा

बुढ़िया माई को दया आ गई
रामी बहू को बुलाने लगी
बहू, झटपट आओ
डेरा पर एक साधू भूखा है
हे मेरे मन, आज तू क्या क्या बोल रहा है
यह जोगी आज क्या क्या बोल रहा है
हे सास, मैं इस की रोटी नहीं पकाऊंगी
इसने मुझे खोटी खोटी गाली दी है
हे निर्लज्ज जोगी, तुझे सरम नहीं
तू हमारे बीच कैसे आ गया
माई, अपनी बहू को समझाओ
तुम जा कर मेरे लिए भोजन बनाओ
जा, मेरी बहू, भात पकाओ
साधू को देख कर हाथ जोड़ो
साधुओं का तो शिव का भेस है
जिनका मन विरक्त हो चुका है
रामी रसीले खाने पकाने लगी
उसे अपने स्वामी की याद आने लगी
गौरा माई तुम कृपा करो
नल दमयन्ती की तरह मुझे पति मिले
मुझ पर अपनी कृपा करो
माता, मेरे मन का दुःख हरो।
साधु घाम में बैठा रह गया
रामी की सास को दया आ गई
अब साधु के समीप माता आ गई
चलो, साधु, भोजन तैयार हो गया।
मालू के पत्ते पर भोजन रखा है
तुम्हारे भात को मैं हाथ नहीं लगाऊँगा
रामी के स्वामी की थाली माँज लो
भात और रोटी मैं आज उसी में खाऊँगा।
स्वामी की थाली में मैं किसी को भोजन नहीं दे सकती
उसमें भात और रोटी क्यों दूँ

तुझे खाना है तो खाले
जोगी, तुम नहीं खाते तो अपना रास्ता लो
बहुत से जोगी झोली लेकर
दिनभर फिरते रहते हैं और कोई उन्हें भिक्षा नहीं देता
पतिव्रता नारी का सत तेजस्वी होता है
डगमग डगमग, जोगी का शरीर काँपता है
जोगी माता के चरणों पर गिर गया
रामी बहू खूब देखती रह गई
हे माता, मैं तेरा पुत्र हूँ
अन्य राज्य से घर आया हूँ
मैं पलटन में भरती हो गया
चीन जापान तक जा पहुँचा
मैंने नौ वर्ष नौकरी की
मेरी नौ रुपये पेनसन हो गई
पुत्र से माता भेंट करने लगी
रामी का मन दुबधा में पड़ गया
अनुराग का सागर उमड़ गया
वह जोगी के शरीर की भसम धोने लगी
पतिव्रता नारी चकित रह गई
वह स्वामी के चरणों पर झुक गई
रामी को वर्षों से दर्शन अभिलाषा लगी थी
आँखों का रुदन वह थाम नहीं सकती
मेरे स्वामी, तुम निर्मोही बने रहे
घर छोड़ परदेश चले गए।

रूपा का गीत

'रास्ते के निकट के खेत में, हे रूपा, तू क्यों अकेले धान निराती है
हे पथिक, मैं तो अकेली हूँ, अपने साथ किस को लाऊँ
रूपा, तेरी देवरानी और जेठानी कहाँ गई
तेरे देवर और जेठ कहाँ गये
रूपा, तेरी और पौणी (पति की बड़ी बहन) कहाँ गई
रूपा, तेरे सास ससुर कहाँ गए

हे पथिक, मेरी जेठानी चूल्हे की रसिक है
हे पथिक, मेरी देवरानी पशुशाला की घसियारी है
हे पथिक, मेरा जेठ सभा में बैठा है
हे पथिक, मेरा देवर भैंसों का ग्वाला है
हे पथिक, मेरी ननद और पौणी ससुराल गई है
मेरे सास ससुर वृद्ध हो गए हैं
हे रूपा, रास्ते के निकट के खेत में दोपहर की घाम में कान से
धान निराती है
हे पथिक, मैं साल और जमोल (धानों की जातियाँ) निराती हूँ
हे रूपा, तेरा प्रियतम कहाँ चला गया
हे पथिक, छोटी आयु में वह मुझ से ब्याह करके चला गया
हे पथिक, उस दिन से वह पलट कर नहीं आया
उसके लगाये सिलिंग का वृक्ष फूलों से लद गया
हे पथिक, मेरे भर जोबन के दिन हैं
उसने उस दिन से मुझे पलट कर नहीं देखा
हे रूपा, मैं ही तेरा प्रियतम हूँ
हे पथिक, तू अपनी माँ और बहिन का प्रियतम होगा
एक बोल तो बोल दिया अब दूसरा न बोलना
दूसरा बोल बोलेगा तो मैं तुझे बहिन की गाली दूंगी
चल, चल, हे रूपा, सिलिंग की छाया में, ओ रौतेली रूपा
सिलिंग की छाया, पीपल की हवा
मेरे प्रियतम के पैरों में नली वाला जूता था
उसकी जंधा में दुडी (एक प्रकार का वस्त्र) का पाजामा था
उस के बदन पर गंगाजल के रंगवाला वस्त्र था और सिर
पर प्वतवै (एक प्रकार के वस्त्र की पगड़ी)
हे पथिक, उस की कमर में रेशमी फेंटा था और हाथ में लोहे
के मुट्ठे वाली
हे रूपा, नली वाला फट गया
दुडी वस्त्र का पजामा भी फट गया
हे रूपा यदि मैं तेरा प्रियतम होऊंगा तो तुझे पालकी में ले
जाऊंगा
यदि कोई लबार हुआ तो तेरे हल जोतूंगा ।'

चारों गीतों की तुलना करने से पहले फिर से ब्रज के गीत की मोटी-मोटी बातों का अवलोकन उचित होगा। गीत का आरम्भ यों होता है कि बट वृक्ष की शाखा पर झूला पड़ा है। झूले पर झूलती हुई एक कोई युवती कह उठती है—हे बटोही ढोला, मैं सात सहेलियों के बीच झूला झूल रही हूँ। बटोही कहता है—सहेलियों के मुख तो उजरे हैं। तुम्हारा मैला भेस क्यों है ? मेरे साथ चलो तो ले चलूँ। ओ बड़े-बड़े नयनों वाली, मेरे साथ चलो ना। मैं तुझे स्वर्ण से पीली कर दूँगा, और चाँदी से स्वेत। वह कहती है—तेरे पीले रङ्ग को आग, लगाऊँ और तेरा श्वेत रङ्ग भी जल जाय। तेरे पिता की दाढ़ी झारूँ ओ बटोही, तेरी मूँछों पर अँगार रखूँ। मैं जिस पिया की गोरी हूँ, उसके यहाँ तो तेरे जैसे लोग पानी भरते हैं। घर पहुँच कर वह अपनी सास से कहती है—सासुल रानी, एक बटोही मिला था, जो कहता था कि मेरे साथ चली चलो। सास पूछती है—उसके वस्त्र कैसे थे और उसकी उनहार कैसी थी ? बहू कहती है—उसके श्वेत वस्त्र थे। छोटे देवर जैसी उनहार। कह उठती है—वही तो तुम्हारा प्रियतम था। तू उसके साथ क्यों नहीं गई ? बहू निराश होकर उत्तर देती है—भागूँ तो भाग नहीं सकती, पुकारते हुए मुझे लाज आती है।

गढवाली गीत की शैली वर्णनात्मक अधिक है। कथा-वस्तु क सम्बन्ध में कुछ लोगों का कथन है कि यह एक सच्ची घटना से ली गई है। कहते हैं गत महायुद्ध सन् १६१४ से लौट कर एक सिपाही ने सचमुच इसी प्रकार अपनी पत्नी के सत की परीक्षा की थी। यह भी हो सकता है कि यह गीत गत महायुद्ध से कहीं अधिक पुरातन हो और पुराने गीत में कुछ परिवृद्धि करके इसे अर्वाचीन रूप देने की चेष्टा की गई हो। इस गीत की तुलना उस किले से की जा सकती है जिसका निर्माण किसी पुरातन किले के भग्नावशेष पर हुआ हो। नारी के सत की परीक्षा का कथन गत महायुद्ध से कहीं अधिक पुराना है। गीत की गति तीव्र नहीं। यह बैलगाड़ी की गति से धीरे-धीरे पहाड़ी चित्रपट पर उभरती है। कुमायूंनी गीत भी आरम्भ में गढ़वाली गीत की ध्वनि लिए हुए नज़र आता है। यद्यपि इसका कथानक खेत ही में शेष हो जाता है। इसका अन्त अत्यन्त आकस्मिक है। जब रूपा का पति कह कर उठता है कि यदि मैं तेरा प्रियतम होऊंगा तो तुझे पालकी में बिठाकर ले जाऊंगा, और यदि कोई लबार

होऊंगा, तो तेरे 'यहाँ हल जोतूंगा,' तो हम सोचते रह जाते हैं कि कि आगे क्या हुआ होगा। पंजाबी गीत की शैली दूसरी है और यह काफी हद तक ब्रज के गीत से अधिक पूर्ण है। इन दोनों के गीतों की शैली चित्रकला की उस शैली के समीप है जिसमें कलाकार तूलिका के गिने चुने शीघ्रगामी स्पर्शों से चित्र उपस्थित कर देता है।

चारों गीतों की तुलना से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि पुरातन काल से विभिन्न जनपदों की लोक-कला में अनेक आदान-प्रदान होते आये हैं। एक जनपद की कन्या दूसरे जनपद में ब्याही जाती थी, या जब एक जनपद से सगे-सम्बन्धी पास पड़ौस के जनपद में पहुँचते होंगे तो वे अवश्य लोक-कला की कोई न कोई वस्तु अपने साथ लेकर जाते होंगे। इसमें से कुछ न कुछ वहाँ छोड़ आते होंगे और कुछ न कुछ वस्तु वहाँ की लोक-कला से अपने साथ अवश्य लेकर आते होंगे। तीर्थ-यात्राओं के द्वारा भी विभिन्न जनपदों की जनता में अवश्य लोक-कला के आदान-प्रदान का क्रम चलता रहता होगा।

जैसा कि आरनहड बाके ने एक स्थान पर स्पष्ट किया है यूरोप के देशों में भी यह देखा गया है कि एक जनपद की लोक-कला किसी न किसी रूप में पास पड़ौस के जनपदों को पार करती हुई सुदूर जनपदों तक जा पहुँची है। उन्होंने इस कलात्मक आदान प्रदान के कई प्रकार उपस्थित किए हैं। कई बार केवल किसी विशेष गीत के स्वर ही दूसरे जनपद में जा पहुँचे और वहाँ इन स्वरों ने लोक कवि की सहायता से शब्दों का नया चोला बदला। कई बार स्वर और शब्द दोनों ही दूसरे जनपद की बपौती में सम्मलित हो गए। यद्यपि कभी-कभी स्वर और शब्द दोनों या किसी एक दृष्टि से इसमें कुछ परिवर्तन भी हुए। कई बार केवल शब्दों ने ही यात्रा की, और दूसरी भाषा में इनका अनुवाद हो गया, और गीत को एक दम नये स्वर प्राप्त हुए। इस प्रकार यह आदान प्रदान की क्रिया विभिन्न जनपदों की लोक-प्रतिभा की भरपूर समृद्धि का कारण बनी। लोकगीत को इस आदान-प्रदान पर सदैव गर्व रहेगा। हमारे देश के विभिन्न जनपदों के लोकगीत के सम्बन्ध में भी यह बात बहुत हद तक सत्य है।

ब्रज के गीतों में सावन के गीत बहुत लोक प्रिय हैं, और सावन के गीतों में 'मोरा' गीत की स्वरलहरी हमारा मन मोह लेती है:

भर भादों की मोरा रैन अँधेर राजा की रानी पानी नीकरी जी
काहे की गगरी रे मोरा काहे की लेज, काहे जड़ाऊ धन इंडरी जी
सोने की गगरी रे मोरा रेसम लेज, रतन जड़ाऊ धन की इंडरी जी
आगें आगें मोरा चाले पीछे पनिहारि, जी पीछे राजा जी के पहरुआ जी
एक बन नाँघौ, दूज बनौ नाँघि, तीजे बन पहुँची है जाइकें जी
जोई भरै मोरा देइ लुढ़काइ, पंख पसारि मोरा जल पीवै जी
परेंरे सरकि जा मोरा भरन दै नीर, मो घर सास रिसाइगी जी
त्यारी तो सासुल धनियाँ हमरी है माय, आज बसेरो हरिअल बाग में जी
परें रे सरक जा मोरा भरन दै नीर, मो घर ननद रिसाईगी जी
त्यारी तो ननदुल धनियां हमरी है भैन, आज बसेरो हरिअल बाग में जी
उठि उठि सासुल मेरी गगरी उतारि, ना तो फोडूँ चौरे चौक में जी
किन तौ ए बहुअल बोले हैं बोल, कौनें दीने तांइने जी
ना काऊ सासुल मोसे बोलें हैं बोल, ना काऊ दीने हैं तांइने जी
बनकौ मोरा सासुल बनही मैं रहत है, बाकी कौहौक मेरे मन बसीजी
उठि उठि बेटा मेरे मोर पछार, तेरी धन रीझी बन के मोरला जी
मोइ देउ अम्मा मेरी पांचौं हथियार, मोई देउ पांचौं कापड़े जी
एक बन नांघौ राजा दूजौ बन नांघि, तीजे बन मोरा पछारिए जी
मारि-मूरि राजा लाए लटकाइ, लाइ धरौ है धन की देहरी जी
उठि उठि धनियाँ मेरी हरदी जौ पीस, मोरा छौंकि बनाइए जी
हरदी के पीसे राजा जलदी न होइ, मोरा के छौंकैं मेरौ जी जरै जी
बन कौ तौ मोरा राजा बन ही में रहत है, बाकी कौहौक मेरे मन बसी जी
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साध, सौंने कौ मोर गढ़ाइए जी
सोंने कौ मोरा राजा चोरी में जाइ, बाकी कौहौक, मेरे मन बसी जी
जो तुम्हें धानियाँ मेरी मोरा की साध, काठ कौ मोरा बनाइए जी,
काठ कौ मोरा रे राजा जरि-बरि जाइ, बाकी कौहौक मेरे मन बसी जी,
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साध, छाती पै मोर गुदाइए जी,
छाती कौ मोरा रे राजा बोलै न बोल, बाकी कौहौक मेरे मन बसी जी ।

ठीक यही प्रसंग एक गुजराती लोकगीत में भी प्रस्तुत किया गया है जो श्री जवेरचन्द मेघानी के गीत-संग्रह 'रढियाली रत' में मौजूद है। एक-दो राजस्थानी और पंजाबी गीतों में भी इस प्रसङ्ग

की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। यहाँ मयूर उसी प्रकार एक आदर्श-प्रेमी का प्रतीक है जैसी यूनानी लोकवार्ता में हंस को उपस्थित किया गया है। साधारण गृहस्थी में राजा और रानी की कल्पना इस बात की दलील है कि ब्रज का यह गीत मध्यकालीन रचना है जबकि राजा रानी साधारण जनता की आन्तरिक आकांक्षा के क्षितिज पर सदैव उभरते चले जाते थे।

ब्रज के जन मानस तथा 'मोरा' जैसे उच्चकोटि के गीत के सम्बन्ध में श्री सत्येन्द्र लिखते हैं :

जन-मानस और मुनि-मानस का संघर्ष आज का नहीं है। मुनि ने सदा यह दावा किया है कि उसकी रचना में शाश्वत प्रकट होता है, और उसने जहाँ तक हो सका है जन और उसकी कृति की अवहेलना की है, उसे हेय बतलाया है। उसने अपनी सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि से भी विशेषतायें पाईं और दिखाईं। उसे अपनी रचना में जीवन-सन्देश मिला, श्रेय और प्रेय, सत्य, शिव और सुन्दर, दिव्य अनुभूति, अलौकिक अभिव्यञ्जना मिली है। इस वर्ग के गर्व ने विश्व की जितनी क्षति की है, क्या इस पर कभी विचार किया गया है। निश्चय ही इसने शास्त्रों के सूक्ष्म विधान कर अपनी प्रशंसा अपने आप करने का कुशल ढंग स्थापित किया, किन्तु यह सदा परास्त होता रहा है। जन-मानस ने कभी कोई दावा नहा किया। उसकी सुश्री ही ऐसी अभिनव रही है कि मुनि के कला-कौशल का गर्व स्वतः चूर्ण हो गया है।

शताब्दियों पूर्व वेदों की रचना हुई। उन्हें जिस वर्ग ने निर्माण किया, उसी वर्ग के अन्य व्यक्तियों ने उसे अलौकिक और अपौरुषेय बतलाया। ऐसा उनका अपना आतङ्क और प्रभाव जमाने के लिये किया जाता रहा। यह अधिक काल तक न रह सका। लौकिक काव्य की भी उद्भावना हुई और आदि-कवि वाल्मीकि ने रामायण रच डाली, वह उनकी रचना मुन-मानस का प्रतिफल न था, नहीं तो उसे लौकिक न कहा जाता। किन्तु मुनि-मानस एक और धाँधली करता रहा है। जन-मानस की सृष्टियों को वह अपनी बनाता रहा है। वाल्मीकि और उनके वर्ग की रचनायें फिर मुनि-मानस की वस्तुयें हो गईं। जन का जो सुन्दर था उसे अपना लिया गया। वह परिमार्जन और संस्कार करना जानता है। लोक-मानस से सामग्री लेकर उन पर केवल कलई

मुनि-मानस कर देता है। मुनि को विद्वान कहा जा सकता है, तत्वदर्शी कहा जा सकता है, किन्तु उसके पास जो कला है वह अपनी नहीं। कला के लिये उर्वर भूमि की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता और उन्मुक्ति ही उर्वरता है..............

"जन-मानस निर्विकार होता है। उसके पास न कोई आदर्श है, न शास्त्र और नियम, उसकी स्फूर्ति में व्यक्ति और व्यक्तित्व का कोई अर्थ नहीं। वह भी विचार करता है। उसकी धृति ज्ञान और विज्ञान की धृति नहीं। शुद्ध प्रकृति की धृति है.......

..........ब्रज क्षेत्र में श्रावण में जो गीत गाये जाते हैं उन में पनिहारिन, नटबा, चन्दना, बिजैरानी, मोरा सभी प्रबन्ध गीत हैं, और उन सब में ऐसे भावुक वर्णन हैं कि प्रशंसा करनी पड़ती है। इन गीतों को अश्लील समझा जाता है और एक मात्र स्त्रियों में इनका प्रचार रहा है, मोरा नाम के गीत को देखिये.......

इस सीधी सी गीत-कहानी में जन-मानस ने जो जीवन की अन्तर्व्यापिनी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति की है, वह कितनी अनुपम है, कितनी सहज और कामोद्दीप्ति से शून्य, एक सहज संवेदना के फल सी। और क्या इसमें सूक्ष्म मनोविश्लेषण नहीं मिलता। रानी के हृदय में मोर की कुहुक का बस जाना, और उसकी प्रतिस्पर्द्धा का परिमार्जन मोर को मार कर किया जाना, और फिर भी अमिट कुहुक का ज्यों का त्यों बने रहना जैसे कोई दार्शनिक सूत्र हो, जिसकी व्याख्या में नश्वर यह काया या उसकी अमर अभिव्यक्ति का चिरन्तन सत्य उपस्थित किया जा रहा हो—और मोरा ने मोर के रूप में ही रह कर तो इस कहानी को, रूपक की भाँति अनेक अर्थों से पूर्ण कर दिया है। शब्द-सौष्ठव इस गीत में नहीं, पर आकर्षण कितना अधिक है, और विचारशील विवेचक के मस्तिष्क के लिए तो इसमें कितनी सामग्री है..................❀"

'मोरा' में प्रियतम के प्रतीक की कल्पना का सूत्र उस युग का स्मरण कराता है जब मानव की दृष्टि में प्रकृति की विशाल और स्निग्ध गोद का स्पर्श सब से अधिक महत्व रखता था। अनगिनत शताब्दियों को लाँघता हुआ मानव

❀ श्री सत्येन्द्र एम०ए०, 'लोक मानस के कमल'-जयाजी प्रताप, ३ फर्वरी, १९३८।

मशीनी युग की दहलीज़ पर खड़ा नज़र आता है। मशीनी युग की मशीनी संस्कृति में उलझी हुई मानव चेतना छटपटाती है, और अपने अतीत का ध्यान करते हुए मानव की आँखों में अनेक परिवर्तन फिर जाते हैं जिनके साथ उसके इतिहास की कड़ियां जुड़ी हुई है। ईर्षा ज्यों की त्यों क़ायम है: आज भी नारी को किसी मानव 'मयूर' की ओर आकर्षित देख कर पुरुष के हृदय में ईर्षा और प्रतिस्पर्द्धा की ज्वाला भड़क उठती है।

चन्द्रावली के गीत का प्रधान स्वर भी पति-पत्नी के पारस्परिक संबन्ध को स्पर्श करता है। मध्यकालीन युग से चली आने वाली सम्मिलित कुटुम्ब की पद्धति को इस जैसे अनेक गीतों की पृष्ठभूमि में रंग भरने का श्रेय प्राप्त है। श्रावण—भादों में झूला झूलती हुई कन्याओं के सम्मुख अनायास ही चन्द्रावली का चित्र उभरने लगता है। झूला हवा की लहरों पर तैरता है और झूले की सहेलियाँ अतीत की स्मृति में खो जाती हैं। जब नारी के सम्मुख आज के टिके हुए जीवन से कहीं अधिक कठिन समस्या उपस्थित रहती थी। यह स्पष्ट है कि चन्द्रावली उन नारियों की प्रतीक समझी जाती है, जिन्होंने शत्रु के पंजे में फँस कर भी अपने सत को आँच नहीं आने दी। कदाचित यह गीत मुग़ल युग के आरम्भ की ओर संकेत करता है। कथानक इतना ही है कि श्रावण के दिनों में चन्द्रावली एक चिड़िया से कहती है कि वह उसके मायके में उसका सन्देश ले जाय। उसका भाई उसे मायके लिबा ले जाने के लिए आता है, और मायके के रास्ते में चन्द्रावली के डोले को एक मुग़ल सिपाही रोक लेता है। चन्द्रावली एक चिड़िया से विनय करती है कि वह उसका सन्देश उसके ससुराल तक ले जाय। ससुराल से ससुर, जेठ और चन्द्रावली का पति तीनों घोड़ों पर चढ़ कर उसकी सहायता को आते हैं। परन्तु उससे कहीं अधिक चन्द्रावली को स्वयं ही अपनी सहायता करनी पड़ती है:

सरग[१] उडंती चिरहुली[२]
लागौ सामन मांस
हमरे बाबल सों नौं कहौ
अपनी बेटी ऐ लेइ बुलबाइ

---

१ स्वर्ग, २ चिड़िया,

लागौ सामन मांस ।
ले डुलिया बीरन चले
लागौ सामन मांस
जाइ पहुँचे जीजा दरबार
भेजो जीजा जी बहैन कों जी
भैया कूँ राँधूगी सैंमई जी
ऊपर बूरौ खाँड
सैयाँ कूँ कोंधई* जी
ऊपर रोटी साग
लै जाऔ सारे अपनी बहैन जी
लै बहैना बीरन चले
लागौ सामन मांस ।
सरग उडंती चिरहुली
जइयौ ससुर दरबार
डोला तौ घेरयौ पठान ने
लागौ सामन मांस ।
सरग उडंती चिरहुली
जइयौ ससुर दरबार
हमरे ससुर जी से न्यौं कहौ
डोला लिया है घेर
लागौ सामन मांस ।
लै हाथी ससुर चले
हथिनी ओर न छोर
लै रे मुगल अपनी भेंट लै
लागौ है सामन मांस ।
बहुअल तौ छोड़ौ चन्द्रावली जी ।
हाथी तो मेरे बहुत हैं
हथिनी ओर न छोर
ना छोडूँ चन्द्रावली
जाइगी जी के साथ
जाऔ सुसर घर आपने

*कोदों

रक्खूं पगड़ी की लाज
सरग उडंती चिरहुली
जइयो जेठ दरबार
हमरे जेठ जी से यौं कहौ
डोला लियौ है घेर
लागौ है सामन मांस।
लै घोड़ा जेठा चले
घोड़ी ओर न छोर
लै रे मुगल! अपनी भेंट लै
लागौ है सामन मांस ;
बहुअल तौ छोड़ौ चन्द्रावली कौ।
घोड़ा तौ मेरे बहुत हैं
घोड़ी ओर न छोर
ना तौ रे छोडूँ चन्द्रावली—
जाइगी जी के साथ।
जाओ जेठ जी घर आपने
राखूँ घूँघट की लाज।
सरग उडंती चिरहुली,
जइयौ पिया दरबार।
हमरे साहिबा से यौं कहौ
डोला लियौ है घेर
लै मोहरें राजा चले
थैली ओर न छोर
लै रे मुगल अपनी भेंट लै
लागौ सामन मांस,
गोरी तौ छोड़रे चन्द्रावली।
रुपिया तौ मेरे बहुत हैं
थैली ओर न छोर
ना तौ रे छोडूँ चन्द्रावली
जाइगी जी के साथ।
जाओ राजा जी घर आपने
राखूँ फेरन[1] की लाज।

पानी न पीउँगी पठान को
सेजौं धरूंगी न पांव।
इतनी सुनि राजा चलि दिए[1]
लागौ सामन मांस;
जा रे मुगल के छोहरा[2]
लागो सामन मांस,
प्यासी मरे चन्द्रावली
जैसी राजदुलारी
प्यासौ मरे चन्द्रावली
जिस के माई ना बाप
लै लोटा मुगल चलौ
तँबुआ दे लई आग
हाड़ जरैं जैसे लाकड़ो
केस जरैं जैसे घास
हाइ हाइ मुगला करै
ठाडैं खाइ पछार
घेरी ही बरती नहीं
लागौ सामन माँस
देखी ही चाखी नहीं
ऐसी राजदुलारो
इतनी सुनि सुसरा रो दिए
मेरी राज दुलारी
बहू भली चन्द्रावली
राखी पगड़ी की लाज
इतनी सुनि जेठा जी रो दिए
मेरी राजदुलारी
बहू भली चन्द्रावली
राखी घूँघट की लाज
इतनी सुनि राजा रो दिए
राखी फेरन की लाज
रानी भलो चन्द्रावली

१—भांवर, २—लड़के

खानों न खायौ पठान कौ
सेजों पै रक्खो न पाँव
लागौ सामन मांस ।

यह गीत किसी न किसी रूप में युक्तप्रान्त के विभिन्न जनपदों में बार बार प्रतिध्वनित हो उठता है। बुन्देलखण्ड में 'मानो गूजरी'[1] का गीत इसी शृङ्खला की एक कड़ी है। बिहार में 'भगवती का गीत'[2] भी भारतीय नारी की गौरव गाथा को इसी रङ्ग में पेश करता है। पंजाब में सुन्दर पनिहारिन का गीत भी इसी एक बात पर केन्द्रित है कि एक मुगल सिपाही के चंगुल में फँसी हुई भारतीय नारी किस तरह अपनी जान पर खेल जाती है। चन्द्रावली और सुन्दर पनिहारिन सगी बहिनें प्रतीत होती हैं। ये सभी गीत प्रान्तीय सीमाओं को लांघ कर एकता के आदर्श पर टिकने के कारण ही लोकपरम्परा में अपना स्थान बनाये हुए हैं।

ब्रज के स्त्री-गीतों में मुगल की चर्चा लोक-गीत के ऐतिहासिक विकास की ओर संकेत करती है। एक गीत में कोई ग्रामीण कुल बधू किसी मुग़ल सिपाही को यों फटकार सुनाती है:—

नदिया के उल्ली पल्ली पार उड़न लागे दो कागला
नदिया के उल्ली पल्ली पार दूखें तो मेरी दो अँखियाँ
कै तेरो पीहर दूर कै तेरो घर में सास लड़ी
उड़ जा रे मुगल गँवार तुझे मेरी का परी
न मेरो पीहर दूर न मेरे घर में सास लड़ी।

नदी के इस पार और उस पार दोनों आँखों का एक प्रकार से दुखने लगना बहुत बड़े दुःख और अपमान का प्रतीक है। परन्तु इस विवाद पूर्ण पृष्ठभूमि को दोनों भुजाओं से परे धकेलती हुई नारी अपने सत की रक्षा किए जा रही है, यह देखकर किस देशवासी का सिर गर्व से ऊँचा नहीं उठ जायगा।

आज भी भाई सावन में अपनी बहिन को ससुराल से लिवा ले चलने के लिए पहुँचता है। सावन के गीत प्रायः झूले की हिलोर पर पनपते हैं, और कहीं कहीं बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से जीवन की

१—यह गीत विशालभारत में मेरे एक लेख में मौजूद है।

२—यह गीत श्री रामनरेश त्रिपाठी के संग्रह में देखिए।

रूप रेखा में रंग भरते हैं। एक गीत में बहिन भाई के प्रश्नोत्तर यों आरम्भ होते हैं:

सामन भादों जोर कै भइया मैंने ले जाय
सामन जिन जाय रे
हूँ कैसे आऊँ मेरी बैंदुली तेरो नाग ने घेरो है घाट
सामन जिन जाय रे
नागन दूध पियाय भइया मैंने ले जाय
सामन जिन जाय रे...............

बहिन के लिए बैंदुली शब्द का प्रयोग सावन के गीतों की विशेषता है। सौ सौ बहाने बनाने वाले भाइयों को ब्रज की कुल-बधुयें चिरकाल से निमन्त्रण देती आ रही हैं। 'सामन जिन जाय रे' की टेक शीघ्रगामी सावन को पकड़ कर रखना चाहती हैं। प्रत्येक कुलवधू यही चाहती है उसका भइया अवश्य आये और सावन बीतने से पहले ही उसे मायके में लिवा ले जाय। बालिकायें अलग झूले पर तान छेड़ देती हैं:—

झुकि जा रे बदरा बरस चों ना जाय.....................

बादल को सम्बोधित करने के इस अन्दाज से गहरी जान-पहचान और बराबरी की भावना प्रगट होती है। यह 'बदरा' तो कोई मेघ-बालक ही होगा जिसे ब्रज के बालक किसी भी समय खेलने के लिए बुला सकते हैं।

सावन का एक गीत यों आरम्भ होता है:—

जन्म जनन्ती री माय,
तैं ने चों न जन्मी री बागन बिच की कोयली
रहती बागन ई के बीच,
काऊ अलबेले मजलसिये कुहक सुनावती...............

यह कोयल बन कर बाग में रहने की भावना रसखान की याद दिलाती है। कन्हैया के लिए 'मजलसिया' का प्रयोग इस गीत की मध्यकालीन परम्परा का प्रमाण है।

रो रो कर जौ पीसने वाली बहिन का चित्र यों अंकित किया गया है—

आले से जौ कौ री माँ मेरी पीसनौं
कोई रोय रोय पीसे चून

जनीते कहियो री
मेरो विरन मोय ले जाय
जनी ते कहियो री.....................

एक गीत में बाप बेटी की बातचीत सुनिए—

मेरे बाबल रे सोने के दोय कलसा लै दे
मेरे बाबल रे नित नित कलसिया फूटती
मेरे बाबल रे नित नित सासुल कोसती
मेरी लाड़ो री कैसे कैसे कोसती
अरमल परमल बाप चटरमल
मां पटरानी भावज रानी वीर कन्हैया कोसती
मेरे बाबल रे वीर कन्हैया कोसती...............

'चन्दना', 'मरमन', 'रमझोल', 'सिपाहिरा' और 'बनजारा' इत्यादि गीत अपने अपने रङ्ग के उत्तम उदाहरण हैं परन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा सम्भव नहीं।

हास्य रस भी ब्रज के लोक-जीवन में बार बार छलक उठता है। भूले के एक गीत में बाजरा की प्रशंसा सुनिये—

आध पाव बाजरा कूटने बैठी
उछल उछल घर भरियो, शैतान बाजरा
कानों देवर मरियो, शैतान बाजरा
आध पाव बाजरा पकावन बैठी
खदक खदक हँडिया भरियो, शैतान बाजरा
कानों देवर मरियो, शैतान बाजरा...........

होली और फाग के गीतों का प्रसार ब्रज में सब से अधिक हुआ है। इनका ताल निराला निराला है और इनकी एक विशेषता यह कि होली के परम्परागत प्रसङ्ग से हट कर ये जीवन के किसी भी चित्र को प्रदर्शित करने की सामर्थ रखते हैं।

खोटो है काम किसान को नादान को
सुख नोंने रे.....
मिलो धूर माटी में
नहीं मिलै बख्त सिर रोटी...........
जा की बुरी कमाई खोटी...........

लोकेक-कवि पतोला रचित एक होली गीत सुनिये—

फागुन में परयौ तुसार
चैत में उखटा
कां ते रँगाय देउँ दुपटा..........

होली की वास्तविक विशेषता शृङ्गार में उभरती है—

कोठे पै ठाड़ी नार
झूमका सोने को
जा ए लगौ चाव गौने को..........

पतोला को यही तीन कड़ी की होली अधिक प्रिय थी। यद्यपि उसके समकालीन और उसके परवर्त्ती लोककवियों ने सदैव होली की परिधि को अधिक से अधिक विस्तृत करते हुए काफी बड़ी बड़ी होलियाँ रचने का यत्न किया है। एक होली में पतोला ने अपनी आत्मकथा पेश की है—

अन्न टका भर खाय
सूख गयो चोला
मेरौ पड़ि गयौ नाम पतोला..........

उदाहरण स्वरूप एक बड़ी होली भी सुनिए, जिसमें ऋण के भार से दबा हुआ किसान किसी बौहरे या साहूकार को सम्बोधित करते हुए उसे खरी खरी सुना रहा है।

गेंहुन में रतुआ लगौ
चनन में लागी सुड़ी
हरैर में कीरा लगौ
सब भांति फूटी मुड़ी
परि गए पथरा
लरका वारे परे उघारे
तोय परी अपनी अपनी
पैसा नांय पास बौहरे
बेसक करि आ दावा
मत देइ दुआर पै कावा..........

विवाह के गीत अलग महत्व रखते हैं। इनके अनेक प्रकार हैं, विवाह की एक एक क्रिया गीतों के साथ गुथी हुई है, सोहर के गीतों की भी इस जनपद में कुछ कमी नहीं, लोरियाँ और बच्चों के खेल

गीत, व्रत और पूजा गीत, देवी और माता के भजन, तीर्थ और पर्व स्नानादि के गीत, त्योहारों के गीत, धोबियों, कुम्हारों और मछेरों इत्यादि विभिन्नवर्गों के गीत, अनेक रसिये, कड़खे और जिकड़ी भजन— ये समस्त सामग्री ब्रज के ग्रामों में बिखरी हुई है। इस मशीन युग में, जब कि सिनिमा और ग्रामोफोन इत्यादि ने बुरी तरह परम्परागत लोकसङ्गीत पर आक्रमण शुरू कर रखा है, यह नितान्त आवश्यक है कि लोकगीतों के संकलन तथा अध्ययन की एक विशेष योजना बनाई जाय बल्कि हम मशीन से मदद लेंगे, और इन गीतों को सुरक्षित रखने का यत्न करेंगे। अनेक जनपदों में लोकगीत आन्दोलन जोर पकड़ रहा है, रेडियो पर विभिन्न जनपदों के लोकगीत जब आपस में गले मिलते हैं तो इन जनपदों का पारस्परिक स्नेह बढ़ने का आभास दिखाई देने लगता है, ब्रज के अनेक गीत इतने सुन्दर और महत्वपूर्ण अवश्य हैं कि वे अन्तरप्रान्तीय लोकगीतों की बिरादरी में बड़े शौक से गाये जायँ।

ब्रज साहित्य मंडल ने ब्रज के लोकगीतों के संकलन की ओर विशेष ध्यान दिया है, इसके लिये मंडल को बधाई दी जानी चाहिए। सोनई, बरसाना, नन्दगाँव, कोसी, गिड़ोह, अकबरपुर, खायरा, चौमुहा, पसौली और बिलौठी—इन दस केन्द्रों से मंडल के कुछ स्नेहियों ने श्री सत्येन्द्र की अगुआई में दो तीन सौ के लगभग गीतों का संकलन किया है, आशा है कि मंडल की ओर से इन गीतों का प्रकाशन शीघ्रातिशीघ्र हिन्दी जगत के सम्मुख उपस्थित किया जायगा।

रसिया में रस का झरना प्रवाहित होने लगता है, यद्यपि कहीं-कहीं इस रस की गति-विधि मर्यादा का उल्लंघन करने से भी नहीं चूकती। मर्यादा के उल्लंघन की बात सुन कर चौंकने की आवश्यकता नहीं, लोकगीत अपनी मर्यादा स्वयं स्थिर करता है। रसिया के स्वर कभी कभी कुछ अधिक चंचल हो उठते हैं। इन्हें बांध कर रखने का प्रयास लाभप्रद नहीं होगा। हो सकता है कुछ लोग रसिया सुनते समय किसी कदर संकोच अनुभव करें। परन्तु यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि रसिया की विशेषता इसकी सर्वाङ्ग सुन्दरता में है। इसके हृदय स्पर्शी स्वरों की उठान इसकी सुन्दरता को और भी

बढ़ा देती है। रसिया आनन्द विभोर मन की वाणी है, दैनिक जीवन इसका धरातल है।

रसिया लोक जीवन का रस है, इसकी परम्परा अखंड है, अविभाज्य है, यहाँ रसिया के कुछ उदाहरण लीजिए।

लम्बरदारी में लगाइ दै बैरी आग
परेला लै दे कंचन कौ।

घटा गई पीहर को
परमेसर है गए मांदी।

हरे की अँगिया जो पैरे
जाय रीझै लम्बरदार

बल्मा झोक लगै लटकन की
मो पै अटा चढ़यौ न जाय

बछेरी डोले पीहर में
जा पै को होइगौ असवार

पदमा पुजारिन बन बैठी
तुलसी के पत्ते चबाय

अँगिया गोटादार
भूलि आई जंगल में

लपट आवै निबुअन की
रस बगिया कितनी दूर

गैलऊआ गोला दै जइयो
कैरी हरियल पक रही ज्वार

मेरी रातों जरी मसाल
बगद गयौ पुल पै ते

कोंधनी सोने की
बनवाइ दै दावेदार

बैठक पोखर पै बनवाइ दै
कलावती के दादा

मेरे इन हाथन की मेंहदी
काऊ दिन सुपनौ है जायगी

उठीऐ जुश्रानी या ढब ते
जैसैं आंधी में भबूड़ौ बल खाय

हेल मो पै गोबर की
लडुआ काहे को दिखावे लम्बरदार

तेरौ खसम दरोगा
अब डर काहे कौ

लम्बरदार की लुगाई
तो ते राम डरपै

चना के लडुआ चौं लायौ
मेरे पीहर में जलेबी रसदार

बम्बा पै बोली तीतरिया
तू बन परवाइवे कब जायगी

मँझोली न लइओ
मेरौ गूँठो पामन जाय

तेरे मन्दे बाजें बीछिया
बदलवाइ लै

चिलकने गोटे पै
तेरौ सब जोबन लहराय

ये सब रसिया के आरम्भिक बोल हैं जो ब्रज के वातावरण में सदैव तैरते रहते हैं। कुछ लोग तो टेक ही में उलझकर रह जाते हैं। परन्तु रसिया का पूरा रस इसके पूर्ण रूप ही में पनपता है। रसिया के दो तीन पूरे उदाहरण भी लीजिए।

तू भँवर बन्यौ बैठ्यौ रहिओ
चल बस मोरे पियौसार,
घोड़ी लै लै दऊँ नाचनी
हरयौ बनाती जीन। चल बस·······
नथ के घड़ाय दऊँ गोखरू
खनवारे की छल्ला छाप, चल बस·······
दही जमाऊँ भूरी भेंस कौ
औऊ पुरा भर खाँड़, चल बस·······
चन्दन चौकी पै बैठनों
औ उ अचरन ढोरूं बियार। चल बस·······

कारी चूँदरिया रंगाय दै
मेरौ जोबन लच्छेदार।
जब ते आई तेरे घर में
गुजर करी टूटे छप्पर में
ना देखे तेरे महल तेवारे
ना सोई पलँग नेवार। मेरौ जोबन···

लै आए हमारे महाराजा
आज हमें छल करकें।
ए सइयाँ तेरे राज में कबहुँ न पैरी चूरियाँ
कलइयाँ भर भर के। लै आए हमारे.......

जुआनी सरर सरर सर्रावे
जैसे अंगरेजन कौ राज।
अँगरेजन को राज जैसे उड़ै हवाई जहाज। जुआनी सरर सरर....
काजर दै मैं का करूं मेरे वैसेई नैन कटार। जुआनी सरर सरर....
जाते मिल जाय निगाह वही मेरा है जाय ताबेदार।
जुआनी सरर सरर....
उमर खिंचे पै कोई न पूछे जुआनी कौ संसार। जुआनी सरर सरर

लोकगीत संकलन कर्त्ता अपने कार्य में उसी अवस्था में सफल हो सकता है जब कि उसे अपने कार्य की सच्ची लगन हो। रिचर्ड सी० टेम्पल ने पंजाबी लोकगीत संबन्धी अपने कार्य की चर्चा करते हुए लिखा है: "मैं उत्सवों में, मेलों में, दावतों में तथा शादियों और स्वांगों में सम्मलित हुआ हूँ। यथार्थ यह है कि मैं प्रत्येक ऐसे स्थान पर गया जहाँ किसी गायक के आने की सम्भावना हो सकती थी। मैं ने उन गायकों को ऐसे फुसलाया कि वे मेरे निजी लाभ के लिए भी गावें। मेरे सन्मुख ऐसे मामले भी थे जिन में ऐसे अवसरों पर झगड़े उठ खड़े हुए हैं और उनसे उस गायक का पता लगा है जो इस अवसर पर पौरोहित्य कर रहा था, और तब उसे मेरे लिए गाने को प्रेरित किया जा सका है, और कभी कभी स्वांग खेलने वाले पढ़े लिखे लोगों को स्वांगों की उन की निजी हस्तलिखित प्रति मुझे देखने देने के लिए प्रेरित किया जा सका है। जब कभी केवल ग्रीष्म ऋतु में मैं घूमने वाले जोगी, मीरासी, भराई तथा ऐसे ही लोगों से गलिओं और सड़कों पर मिला हूँ, तब उन्हें रोक कर यथा समय उनसे जो कुछ वे जानते थे उगलवा लिया है। कभी कभी देशी राजाओं और सरदारों के दूतों और प्रतिनिधियों से मिलने और बातचीत करने का भी अवसर मिला है.... ये वे लोग हैं जो अपने स्वार्थ तथा लाभ के लिए कुछ भी करने को सदैव तत्पर रहते हैं.......उन्हें इस सम्बन्ध में संकेत मात्र कर देने

से एकाधिक लोकगीत मुझे प्राप्त हुए हैं। अन्त में व्यक्तिगत भेंट तथा पत्र-व्यवहार, गोरे और काले सभी प्रकार के ऐसे व्यक्तिओं से, जो सहायता कर सकते थे, उपयोगी सिद्ध हुआ है, और बहुत सी सामग्री मुझे इस प्रकार प्राप्त हुई है।"

अन्त में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि-ब्रज की लोकगीत यात्रा के सम्बन्ध में मुझे मथुरा, प्रेमसरोवर, बरसाना, नन्दगांव, ऊंचागांव, कोसी, पुष्पसरोवर, गोवर्धन, राधाकुंड, मुखरई, कढेरु का नंगरा, आनरा छायली, उर्खरा, शाहदरा, नुनियाई और धाँधूपुर इत्यादि स्थान देखने का अवसर मिला है, और मैं उन सब मित्रों का ऋणी हूँ जिन के सहयोग से मुझे अनेक लोकगीत प्राप्त हुए। मैं ब्रज साहित्य मंडल का भी ऋणी हूँ जिस के तत्वावधान में इस शिविर का कार्यक्रम निश्चित हुआ और मुझे यहाँ आप जैसे महानुभावों के सन्मुख ब्रज के लोकगीतों पर कुछ कहने का अवसर दिया गया।

लोकवार्ता और लोकगीत

[श्री सत्येन्द्र एम० ए०]

पहले किसी भाषण में यह बताया जा चुका है कि हमारे साहित्य के दो रूप होते हैं—एक विशिष्ट रूप और दूसरा साधारण रूप। हमारा शिष्ट रूप आयोजन के साथ होता है। उसमें हम साधारण को स्थान नहीं देते। साधारण को उसमें सम्मिलित कर दिया जाय तो यह माना जाता है कि उसमें दोष आ जाता है इसलिए वह वहिष्कृत कर दिया जाता है। साधारण कोटि का साहित्य सार्वजनिक साहित्य होता है। साधारण जन के मनोभाव, उसका दुःख-सुख, हँसी इसी साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं।

यह लोक-साहित्य जीवन से घनिष्ठ संबंध रखने वाला है। लोक-जीवन की प्रवृत्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ एक नहीं अनेक रूप ग्रहण करती हैं। ये सभी प्रवृत्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ लोक-वार्त्ता के अन्तर्गत आ सकती हैं। किन्तु शिष्ट-वर्ग के भेद से साधारण वर्ग 'लोक' शब्द से अभिहित होने लगा है। यह अंग्रेजी के 'फोक' का पर्यायवाची है। इस भेद के कारण लोक-जीवन की प्रवृत्तियों और अभिव्यक्तियों के वे रूप जो शिष्ट-वर्ग द्वारा मान्य हुए हैं 'लोकवार्त्ता' से भिन्न माने जाने लगे हैं। वे कला 'साहित्य' 'संगीत' के नाम से पुकारे जाते हैं। उनके सधे-बँधे रूप और आदर्श होते हैं, उनमें नई सुष्ठु और दिव्य कल्पनाएँ होती हैं। उनमें बुद्धि, युक्ति, तर्क, भाव और इसके संस्कृत रूपों का महत्व होता है। जीवन के शिखरों का दर्शन इसमें मिलता है। उधर लोक-वार्त्ता में जीवन का वास्तविक रूप प्रत्यक्ष होता है। उसे हम कला न कहें, साहित्य न कहें तभी ठीक है। वे जीवन की अभिव्यक्तियाँ हैं। स्वयमेव जीवन हैं। साधारण लोक के अपने सहज विश्वास जो सभ्य भाषा में अन्धविश्वास कहे जाते हैं, उसके हृदय की साधारण और विशेष प्रतिक्रियायें, प्राचीन परंपराओं के अवशेष और रूप

लोक-वार्त्ता में मिलते हैं। समाज में सदा ही ये दोनों रूप मिल जाते हैं। वैदिक साहित्य में भी साहित्य के ऐसे ही दो धरातल देखे जा सकते हैं। विशिष्ट धरातल में वेदों की वे ऋचायें मानी जा सकती हैं जो विविध देवी-देवताओं की अनुभूतियों से संबंध रखती हैं, जिनमें कल्पना का सौष्ठव अपनी पूर्ण सुकुमारता के साथ व्यक्त हुआ है। इस कोटि में 'ऊषा' का वर्णन सबसे श्रेष्ठ है। साधारण कोटि की रचनाओं में वे रचनाएँ आती हैं जिनमें सामाजिक बातों पर प्रकाश डाला गया है जैसे जुआ खेलने पर दुःख प्रकट करने से संबंध रखने वाली। ऐसी रचनाओं में काव्य-कल्पना का कम प्रयोग हुआ है। और साथ ही वे रचनाएँ भी जिनमें लोकवार्त्ता का उल्लेख है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है मनुष्य-बलि का उल्लेख वेदों में जिस रूप में मिलता है वह लोकवार्त्ता का ही रूप माना जायगा। उसमें हमें किसी परंपरागत आचार की अभिव्यक्ति की झाँकी मिलती है।

तात्पर्य यह है कि लोक-वार्ता बहुत प्राचीन वस्तु है। वेद भी मौखिक रूप में सुरक्षित रखे गए और लोकवार्ता भी सुरक्षित मौखिक रूप में ही रखी गई है। वेदों ने हमारी मानसिक संस्कृति और धर्म की दृष्टि बनाने में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। वेद ही हमारी सभ्यता और संस्कृति के मूलाधार हैं। इतनी प्राचीन पुस्तक वेद के कारण प्राचीन आर्य जाति सबसे अधिक सभ्य रही। पुराणों में भी वेदों की व्याख्या है। लोक-जीवन को समझने के लिए पुराणों ने भी बड़ा सुन्दर कार्य किया। इस प्रकार लोक-जीवन और वैदिक-जीवन को मिलाने की चेष्टा पुराणों द्वारा हुई। पुराणों में हम सर्व-संग्राहक धर्म पाते हैं। इस प्रकार हमारे लोक-जीवन और शिष्ट-जीवन दोनों का सम्बन्ध निरन्तर चलता रहा है। धर्म के क्षेत्र में भी यही अवस्था रही है। लोक-जीवन में प्रचलित वार्ताओं का उपयोग प्रत्येक धर्म के साहित्य ने किया है, ऐसा प्रतीत होता है। वाल्मीकि-रामायण और तुलसी के रामचरितमानस की कथा में भेद है। निश्चय ही तुलसी ने अपने कथानक को लोक-प्रचलित वार्ता से संशोधित किया है। सूफी कवियों ने तो लोक-कहानियों को ही अपने विचारों को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनाया। यह सब लोक-वार्ता की आन्तरिक शक्ति के कारण हुआ। आज हमारे साहित्य-मनीषी उस

शक्ति से दूर पड़ गये हैं। कुछ विदेशियों ने इस दिशा में उद्योग किया है। उनका उद्योग शुद्ध ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से हुआ नहीं माना जा सकता। उन्हें भारतवासियों को शासन करने की दृष्टि से समझने की आवश्यकता थी। लोक-वार्ता की सामग्री से ही उन्हें समझने में सच्ची सहायता मिल सकती थी। किन्तु उनके उस उद्योग में भी वैज्ञानिक ज्ञान की नींव पड़ गयी। आज हम स्वतन्त्र हो गये हैं, अब हमें स्वयं अपने मर्म को समझने की आवश्यकता है। हमें अपने साहित्य में के लिए भी शक्ति और सामग्री चाहिए। वह 'लोकवार्ता' से ही मिल सकेगी। जिस प्रकार स्थापत्य और मूर्तियों के खण्डहरों में इतिहास के अवशेष मिलते हैं, जिनसे इतिहास की खोई हुई कड़ियाँ जुड़ती प्रतीत होती हैं, वैसे ही लोकवार्ता में भी हमें ऐसे ऐतिहासिक महत्व की सामग्री प्राप्त हो जाती है। यह अवश्य है कि उस ऐतिहासिक ध्वंस का शोध विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। हम उन विशेषज्ञों के लिए यदि सामग्री ही प्रस्तुत कर दें, तो क्या कुछ कम महत्व की राष्ट्रीय-सेवा कर रहे होंगे? नहीं। इस सामग्री का प्रस्तुत करना भी एक महान् कार्य है। लोक-जीवन की सामग्री मौखिक रूप में चली आ रही है, वह नष्ट न हो जाए; इसलिए हमारा पावन कर्तव्य है कि उसे जितना ग्रहण कर सकें करलें।

किन्तु यह जान लेना भी तो पहले अत्यन्त आवश्यक है कि लोकवार्ता के अन्तर्गत किन-किन विषयों का समावेश होता है। हम यहाँ उनका उल्लेख किये देते हैं—

१—वे विश्वास और आचरण-अभ्यास जो सम्बन्धित हैं—

१—पृथ्वी और आकाश से
२—वनस्पति जगत से
३—पशु जगत से
४—मानव से
५—मनुष्य-निर्मित वस्तुओं से
६—आत्मा तथा दूसरे जीवन से,
७—परा-मानवीय व्यक्तियों से (जैसे देवताओं, देवियों तथा ऐसे ही अन्यों से)

८—शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, आकाश-वाणियों से
९—जादू-टोनों से
१०—रोगों तथा स्यानों की कला से

२—रीति-रिवाज—
१—सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें
२—व्यक्तिगत जीवन के अधिकार
३—व्यवसाय-धन्धे तथा उद्योग
४—तिथियाँ, व्रत तथा त्यौहार
५—खेल-कूद तथा मनोरञ्जन

३—कहानियाँ, गीत तथा कहावतें—
१—कहानियाँ (अ) जो सच्ची मान कर कही जाती हैं।
(आ) जो मनोरञ्जन के लिए होती हैं।
२—गीत, सभी प्रकार के
३—कहावतें तथा पहेलियाँ
४—पद्यबद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें।

यह सूची हमने यहाँ श्रीमती वर्न महोदया की पुस्तक के आधार पर प्रस्तुत की है। इससे हमें यह विदित हो जाता है कि लोक-वार्ता के अन्दर 'आचार' और 'शब्द' दोनों ही प्रकार की सभी अभिव्यक्तियाँ आ जाती हैं। आप देख सकते हैं कि यह कितना महान् कार्य है। कितने उत्तरदायित्व का भी है। हमारे जीवन की कोई भी बात इसमें छूटने नहीं पायी। हमें भी संग्रह करते समय यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि छोटी से छोटी बात भी न छूटे।

आज हम यहाँ विस्तार से इन सभी को संग्रह करने की प्रणाली पर बात नहीं करेंगे। लोक-साहित्य पर ही हमें आज विशेष ध्यान देना है।

इस प्रकार लोक-साहित्य का धरातल कई प्रकार का हो जाता है। उन प्रकारों में लौकिक साधारण साहित्य के दो वर्ग हो जाते हैं। चेतन मस्तिष्क के धरातल वाले को ग्राम नागरिक साहित्य का नाम दे सकते हैं। इस ग्राम नागरिक साहित्य में भी आपको दो रूप मिलते हैं। एक को सहज और दूसरे को विशिष्ट कह सकते हैं। ये विशिष्ट

रचनाएं यत्नशील उद्योग से रची जाती हैं, इनमें ग्रामीण मस्तिष्क भी अपने ज्ञान के वैभव को प्रदर्शित करने के लिए उत्सुक रहता है। इसी कारण इनमें प्रतियोगिता का भाव मिलता है। ऐसे साहित्य में गाँवों में प्रचलित प्रबन्धकाव्यात्मक जिकड़ी के भजन आ सकते हैं। उसकी तुलना में उधर रसिया लीजिये। यह सहज क्षेत्र का साहित्य है। ये मुक्तक काव्य होते हैं। यदि वह परम्परा से चल कर आया है तो उसके लक्षण और होते हैं। और जब इस सहज काव्य में विलास की भावना आ जाती है तो उसमें तथाकथित अश्लीलता का प्रयोग हो जाता है। इसी तरह एक और साहित्य हमें मिलता है—नागरिक ग्राम साहित्य। यह उन व्यक्तियों का साहित्य है जो नगर के अन्दर रहते हैं। किन्तु नागरिक ऊँचाई पर नहीं पहुँचे। उद्योगी वर्ग में इन्हें सम्मिलित किया जा सकता है। इनकी ये रचनाएं 'ख्याल' कहलाती हैं। यह साधारण साहित्य पहली अवस्था का है। ब्रज मंडल के खोज की अधिकांशतः पहली चीज़ यही है। दूसरी अवस्था में अर्द्ध चेतन और उपचेतन मानसिक अवस्था की चीजें आती हैं। इसका सम्बन्ध पुरुष समाज से होता है। यह परंपरा से आता है। इसमें पता नहीं चलता कि निर्माण करने वाला कौन था। इनमें भावों का बाहुल्य रहता है। तथा किसी न किसी कथा का आश्रय लिया जाता है। कथा के पात्र विशेष जीवट के होते हैं; या भक्त, महात्मा। जीवट के पात्रों के काव्य में भी भाव भरे रहते हैं। लेकिन ये उतने गहरे नहीं होते जितने कि भक्त-महात्माओं के में। अतः दूसरी अवस्था का परम्परा प्राप्त साहित्य है जो साधारणतः प्रबन्ध काव्य है। ये गेय प्रबन्ध काव्य हुआ करते हैं; इनमें नरसी—ढोला—श्रमणों के गीत और भरथरी के गीत आते हैं।

ये मध्यम काल के चेतन-मस्तिष्क की रचनाएं हैं। हमारी संस्कृति का सब से नीचा धरातल आदिम मानव है। जिस तरह कहीं कहीं इनकी ठठरियां मिलती हैं और कहीं कहीं वंशज भी मिलते हैं, इसी प्रकार आदिम मानव की परंपरा है; और उनमें जो प्रचलित साहित्य है वह कथा कहानियों के रूप में है। तीसरी अवस्था का साहित्य हमें स्त्री-समाज में मिलता है। पुरानी परम्परा की रक्षक नारी है। यदि आप स्त्री-समाज से प्राप्त होने वाले साहित्य को देखें तो सभी चीजें मिल जाएँगी। यथार्थ में विवाह आदि के विधान में

स्त्रियों का अधिक भाग है। वेद के पंडितों को धार्मिक अनुष्ठानों में कितना कम भाग दिया गया है, यह जीवन के सांस्कृतिक अनुष्ठानों को देखने से विदित होगा। लोक-जीवन की जय यहाँ पर मिलती है। संस्कारेतर चीजें भी स्त्री-समाज में मिलती हैं। जैसे सावन के गीत—बारहमासे। स्त्रियों के निजी कोमल रूप इन्हीं गीतों में प्रकट होते हैं। चौथी अवस्था में त्यौहार सम्बन्धी गीत और कहानियाँ आती हैं। पांचवी अवस्था में मानवीय जन्म सम्बन्धी संस्कार। इनमें जो सहज विश्वास दिखलाई पड़ते हैं उन्हें देखकर आश्चर्य होगा। ऊपर जिस साहित्य की चर्चा हमने की है वह शिष्ट-उच्च वर्ग के त्यौहारों से सम्बन्ध रखने वाली चीज़ है।

मौखिक वार्ता में एक बुढ़िया पुराण आता है। यह ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब के यहाँ मिलता है। इनमें आपको वह यथार्थ गहरी चीजें मिलेंगी जो कि इतिहास को प्रभावित करने वाली होती हैं। तो मानव के आदिकाल से लेकर अब तक के इतिहास की सामग्री इसमें मिलती है। उन सब को हमें संग्रह करने की आवश्यकता है। इसमें दो बातों का ध्यान रखना पड़ता है। विविध जातियों के पुराणों का उल्लेख और संग्रह कर लेना चाहिए। इनमें एक तो आनुष्ठानिक रूप है। उसका विवरण हमें लिख लेना चाहिए। उदाहरण के लिए घूरे पूजने, कुआ पूजने की प्रथायें आदि। दूसरा है अनुष्ठान के अंग स्वरूप जो सांस्कारिक उद्गार हैं। ऐसे वाक्य मिलते हैं जो गीत नहीं होते हैं, संवाद रूप में भी मिलते हैं। तीसरे सांस्कारिक गीत होते हैं। उनका भी संग्रह होना चाहिए। इनके दो रूप हो सकते हैं—एक तो वारण-सम्बन्धी या दैवी। विवाह संस्कारों में ये होते हैं। जैसे आँधी पानी को बाँधना। ये तांत्रिक कहे जा सकते हैं। त्यौहारों में भी अनुष्ठान का उल्लेख मिलता है। उसका विवरण देने की आवश्यकता है। अनुष्ठान के साथ कहीं कहानियाँ मिलती हैं, कहीं गीत मिलते हैं। त्योहारों के साथ साधारणतः तीन चीजें रहा करती हैं। १ आनुष्ठानिक क्रिया, पूजा-विधान, २ कहानी, ३ गीत। इन सबके संग्रह और अध्ययन की आवश्यकता है। इसमें कार्त्तिक का महीना विशेष स्थान रखता है। इनमें गीतों के अलावा कहानियों का भण्डार तीस दिन तक चलता रहता है।

मौखिक साहित्य की दृष्टि से हम अपने वर्ग को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) उच्च वर्ग (२) निम्न वर्ग—यह सब समाज व्यवस्था में बंधे हुए होते हैं। (३) विशेष वर्ग है—गाना बजाना जिनका पेशा हो जाता है जैसे जोगी—हमारे यहाँ स्त्रियों में जो गहरी चीजें मिलती हैं उससे भी गहरी चीजें यहाँ मिलेगी। इस तरह विशेषकर लौकिक अनुष्ठान को अपनाने और इस साहित्य के जितने विभेद होते हैं उन्हें संग्रह करने की आवश्यकता है। हमने अब तक कहानी और गीत की चर्चा की है। इसके अलावा चुटकुले और कहावतें भी संग्रह करने की चीजें हैं। किन्तु इसके साथ हमें कुछ और बातों पर ध्यान रखने की जरूरत है।

लोकवार्ता का सब कलाओं से चाहे सीधा संबन्ध न हो लेकिन फिर भी उसका लोक-जीवन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। लिखते समय शब्दों के उच्चारण और ध्वनि-विज्ञान पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। ठीक उसी प्रकार हमें इस साहित्य को लिपिवद्ध करना चाहिए जिस प्रकार कि बोलने वाला बोलता है। उसके उच्चारण को बहुत ध्यान से सुनकर समझ कर उसे अपनी लिपि के द्वारा बद्ध कर लेने की आवश्यकता है। जैसे वाने-व्वाने, ब्या-ब्या आदि में से क्या उच्चारण है? प्रधान केन्द्र निम्न वर्ग का होना चाहिए। जमींदार और मुखिया से लेकर निम्न श्रेणी के लोगों से मिलकर मीठी बातों द्वारा सामग्री एकत्रित करना चाहिए।

लोकगीतों का संग्रह कैसे किया जाय?

१—पहले तो आप विविध प्रकार के व्यक्तियों से चर्चा करके यह पता चला लें कि आपके गाँव में कौन किस प्रकार के गीतों का कितना धनी है।

२—इस चर्चा चलने का अपना अपना ढङ्ग निराला हो सकता है। किन्तु सुगमता वहाँ होती है जहाँ आप भी उनके साथ बराबर का भाग ले सकें। आपको भी कुछ लोक गीत याद हों। में से क्या उच्चारण है' उन्हें आप भी सुनायें। उनके सुझाव से और गीत गाँववाले आपको सुनाने लगेंगे।

३—यह भी आवश्यक है कि गाँव में जिससे आपको गीत लेने हैं उसका विश्वास आप प्राप्त करलें। गाँववालों में अपने गीत सुनाने

के लिए उत्सुकता का अभाव नहीं मिलेगा ? हाँ उन्हें आपको लिखाने में रुचि नहीं। लिखाने में उन्हें रुक रुक कर कहना पड़ता है इस कारण उन्हें कहने में जो आनन्द आता है उसमें बाधा पड़ती है, उतना धैर्य भी उनमें नहीं होता; फिर किसी बात के लिखे जाने के प्रति उनके मन में एक अज्ञात आशंका भी विद्यमान रहती है। उनके जीवन में लिखने के अवसर आये हैं, वे पुलिस या पटवारी जैसे राजकर्मचारी द्वारा ही आये हैं। यह संस्कार बाधा डालता है। किन्तु आपका नम्र आचार गीत गानेवाले के प्रति हृदय में आदर, उनका हित करने की भावना आदि की विद्यमानता से ये अड़चनें दूर हो सकती हैं। यथावसर कुछ प्रलोभन भी आवश्यक हो सकता है।

४—स्त्रियों के पास जो सामग्री कण्ठाग्र है, उसे प्राप्त करने के लिए आपको किसी स्त्री को ही माध्यम बनाना होगा। वह आपकी माँ, बहिन अथवा स्त्री हो सकती है। बहुत सी सामग्री तो स्वयँ इन्हीं से घर में ही मिल जायगी, शेष ये अन्य पास-पड़ौस की स्त्रियों से एकत्रित करा सकती हैं।

यह बात ध्यान देने की है कि यदि हम स्त्रियों को इस कार्य में प्रवृत्त कर सकेंगे तो समाज का अन्यथा भी बहुत लाभ होने की सम्भावना है। स्त्रियाँ मिल-बैठ कर बहुधा कलह की बातें, परनिन्दा की बातें ही किया करती हैं। उनके पास चर्चा का कोई और विषय नहीं होता। आपकी प्रेरणा से वे गीतों की चर्चा करने लगेंगी।

५—इन गीतों को लिखते समय प्रत्येक शब्द के उच्चारण पर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है। विशेषकर निम्न बातों पर—

अ—खड़ी बोली में जो शब्द अकारान्त हैं, उसका उच्चारण कैसा होता है। वह अकारान्त रहता है या उकारान्त हो जाता है, या कुछ और। उदाहरणार्थ: 'एक जाट औ जाट' या 'एक जाटु औ जाटु' या 'एक जाट औ जाटु'। अन्तिम उदाहरण की भाँति क्या कहीं अकारान्त और कहीं उकारन्त होता है। ठीक जैसे बोला जाता है वैसे ही लिखा जाना चाहिए।

आ—साधारणतः जो शब्द अलग अलग समझे जाते हैं, बोलने में वे मिले हुए तो नहीं प्रतीत होते। यदि मिले हुए सुनाई पड़ते हैं तो

उन्हें वैसे ही लिखना—उदाहरण के लिए 'एक जाट ओ' को बोलने वाला यों बोल सकता है 'एक जाटोओ'।

इ—कहीं कोई स्वर साधारण से अधिक समय तक तो नहीं बोला जाता ? यदि बोला जाता है तो उसे उसी अनुमान से दुहरा कर लिखो। जैसे 'एक जाटु ओ' को जब मिलाकर बोला जाता है तो प्रायः यह विदित होता है कि अन्तिम ओ स्वाभाविक समय से तिगुना अधिक समय लेता है, तो उसे यों लिखा जाना चाहिए 'एक जाटो ओ ओ।' नीचे अर्द्ध वृत्त-रेखाओं से उन ओ ध्वनियों को रेखाङ्कित कर देना चाहिए। इससे यह प्रकट होगा कि ये ध्वनियाँ स्वतंत्र नहीं एक ही 'ओ' ध्वनि का बढ़ा हुआ रूप हैं।

ई—स्वर के स्वरित रूप पर ही ध्यान नहीं देना, उसके लघु, लघुतर, लघुतम उच्चारणों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। 'एक' का उच्चारण एक (जिसमें ए का पूर्ण उच्चारण है जैसे 'एक आदमी' में है) एक ('ए'का लघु उच्चारण जिसमें 'क' पर जोर पड़ता है, 'ए' पर नहीं जैसे 'एक दिन' में 'ए' का), एक (इसमें ए, का उच्चारण 'य' के निकट है), अथवा 'इक' की भाँति उच्चारण है।

उ—यही ध्यान ऐ—(ऐरावत, के 'ऐ' की भाँति अथवा 'अइ' की भाँति), औ ('और' के औ' को भाँति या 'अउ' की भाँति), इ, उ, य, व की ध्वनियों पर भी विशेष ध्यान रखना होगा।

ऊ—कुछ शब्दों का विशेष रूप ध्वनि संयोगों से बन जाता है, वे हमारे ध्यान से दूर न हो जाने चाहिए। जैसे वहाँ के लिए कहीं-कहीं जो शब्द मिलता है, उसका ठीक-ठीक उच्चारण क्या है : 'म्वाँ, मुआँ' या क्या ? इसी प्रकार यहाँ—के लिए 'आ' जैसे शब्द बोले जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक शब्द के उच्चारण पर ध्यान देकर ही उसे ठीक ठीक लिपिवद्ध करने की चेष्टा होनी चाहिए। जो ध्वनियाँ अपनी देवनागरी वर्णमाला से ठीक ठीक प्रकट न हो सकें उनके लिए अपने चिन्ह भी बनाये जा सकते हैं इन चिह्नों को सोदाहरण समझा देने की आवश्यकता है।

६—लिपिवद्ध करते समय अनेकों शब्द ऐसे आ सकते हैं जिन से आप परिचित न हों। ऐसे शब्दों को भी ज्यों का त्यों ही लिखिये।

हाँ उसके अर्थ के सम्बन्ध में आप कहनेवाले से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। यह सदा संभव नहीं हो सकता कि कहनेवाला उसका अर्थ जानता ही हो। फिर भी उसकी दी हुई व्याख्या का नोट आपको कर ही लेना चाहिए। साथ ही गाँव में तथा ओर-पास अन्य व्यक्तियों से भी उसकी व्याख्या पूछनी चाहिए।

७—प्रत्येक गीत के साथ निम्न लिखित सूचनाएँ अत्यन्त आवश्यक हैं—

अ—गीत सुनानेवाले का नाम, जाति तथा अवस्था।

आ—गीत कब गाया जाता है?

इ—उस गीत के सम्बन्ध में कोई विशेष बात कही जाती है?

ई—गीत किस गाँव में सुना गया?

ब्रज की कला--स्थापत्य, मूर्ति, चित्र तथा संगीत

[श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०, अध्यक्ष पुरातत्त्व संग्रहालय मथुरा]

जीवन के सुन्दर रूप की अभिव्यक्ति ललित कला है, जो मानव-हृदय की देन है और जिसकी अनुभूति भी हृदय से संबंधित है। मनुष्य के रसात्मक भाव जब परिपक्व होकर निकलते हैं तब ललित कला का रूप धारण करते हैं। ये रूप मूर्त और अमूर्त दोनों हो सकते हैं। साहित्य (काव्य, नाटकादि); संगीत (गायन, वाद्य तथा नृत्य), चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य—ये ललितकला के प्रधान स्वरूप हैं। इन्हें 'ललितकला' या केवल 'कला' के नाम से अभिहित किया जाता है।

भारतीय समाजशास्त्रियों ने जीवन को पूर्ण बनाने के लिये सत्य और शिव के साथ सौंदर्य को आवश्यक अंग माना है। सौंदर्य के बिना जीवन नीरस हो जाता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ पुरातन काल से धर्म और दर्शन के साथ-साथ कला का अस्तित्व रहा है। इन तीनों की सम्मिलित त्रिवेणी में अवगाहन इहलोक तथा परलोक की सिद्धि का साधन कहा गया है।

हमारी प्राचीन मथुरा नगरी ललितकला विशेषतः मूर्तिकला तथा वास्तुकला (स्थापत्य) की केन्द्र थी। इतिहास से पता चलता है। कि इस नगरी में तथा इसके समीपस्थ प्रदेश में ई० पू० सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक अगणित स्तूप, विहार, मंदिर, महल आदि बने परन्तु कालचक्र तथा दुर्दांत आक्रमणकारियों के निष्ठुर हाथों ने एक भी समूचा नमूना नहीं छोड़ा। उस काल की वास्तुकला का उनके प्राचीन स्थापत्य का एक भी समूचा उदाहरण आज बचा होता तो उसे देख कर पता चलता कि माथुर शिल्पी अपने कार्य में कितने प्रवीण थे। उनके द्वारा ई० पू० छठी शताब्दी में बनाए हुए एक स्तूप को देख कर ई० दूसरी शताब्दी के लोगों को भ्रम हो गया था कि वह

मनुष्य की कृति न होकर देवों की कृति है। इसीलिए उन्होंने उसे 'देवनिर्मित' स्तूप लिखा है। स्तूपों, मंदिरों तथा महलों के कुछ अवशेष वेदिकाओं, तोरणों, बहिर्द्वारों, गवाक्षों, खंभों तथा इमारती पत्थरों के रूप में मथुरा नगर तथा उसके आसपास से मिले हैं। मूर्तिकला के अध्ययन के लिए तो विविध धर्मों से तथा लोक-जीवन से सम्बन्धित सहस्त्रों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इस बची हुई विशाल सामग्री को ही देख कर पता चलता है कि माथुर शिल्पी तथा कलाकार-प्रकृति चित्रण के साथ-साथ दैवी तथा मानव भावों के अङ्कन में कितने सिद्धहस्त थे ?

ब्रज में चित्रकला तथा संगीत का भी विकास हुआ। चित्र-कला की कोई निजी प्राचीन शैली ब्रज में नहीं पाई गई, परन्तु इस कला को ब्रज की बड़ी भारी देन है। भगवान कृष्ण की विविध लीलायें तथा ब्रज के मनोरम प्राकृतिक स्थान सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही चित्रकारों के प्रधान वर्ण्य विजय हुए और उस समय से लेकर भारत में प्रचलित सभी कला-शैलियों में हम इन विषयों का प्राधान्य पाते हैं। संगीत की प्राचीनता तथा उसके विस्तार का परिचय हमें उन अनेक पाषाण तथा मृण्मूर्तियों से होता है जिनमें विविध प्रकार के वाद्य बनाते हुए स्त्री-पुरुष, नृत्य करती हुई अलंकृत नारियाँ तथा संगीतोत्सव के अन्य अनेक दृश्य मिलते हैं। ई० सोल-हवीं शताब्दी से इस कला की और भी उन्नति हुई, जिसका प्रमाण हमें तत्कालीन साहित्य में तथा रास जैसी अनोखी वस्तु के आविर्भाव और उसके विकास में मिलता है।

ब्रज की कला के इतिहास को समझने के लिये यहाँ पर शासन करने वाले विभिन्न राजवंशों का काल जान लेना आवश्यक होगा। मथुरा में मौर्य काल से पहले की कला-कृतियाँ, शायद मिट्टी की कुछ मातृदेवी की मूर्तियों को छोड़कर नहीं प्राप्त हुई हैं जिससे हमें मथुरा कला का प्रारम्भ मौर्यकाल के प्रारम्भ से ही मानना पड़ता है। यही प्रारम्भकाल साँची, भरहुत, बोधगया तथा सारनाथ की कला का भी है। हो सकता है, भविष्य में इसके पूर्व की वस्तुएँ मिलने से हम तदनुसार मथुरा कला के प्रारम्भिक काल की ओर पीछे ले जा सकें। अस्तु।

मथुरा प्रदेश ई० पू० ३२५ से लेकर ई० पू० १८४ तक मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। इसके बाद से लेकर लगभग ई० पू० २० तक यहाँ शुङ्ग राजाओं का शासन रहा, यद्यपि बीच में लगभग १०० ई० पू० से ५७ ई० पू० तक यहाँ मध्य एशिया से आने वाले शक-क्षत्रपों का प्रभुत्व हो गया था। ई० पू० २० के बाद से १८० ई० तक यहाँ कुषाणों (शकों की एक शाखा) का राज्य रहा। इसके बाद से लेकर लगभग ३२० ई० तक यह प्रदेश नागवंशी शासकों द्वारा शासित रहा और फिर ३२० ई० से लगभग ६०० ई० तक यहाँ गुप्त-नरेशों का साम्राज्य रहा। इसके बाद से लेकर बारहवीं शती के अन्त तक (मध्यकाल में) मथुरा विभिन्न प्रादेशिक हिन्दू राजाओं के प्रभुत्व में रहा। फिर दिल्ली की अनेक मुसलमानी सल्तनतों की अधीनता में १५२६ ई० तक रह कर यह प्रदेश मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत लगभग १७ वीं श० के अन्त तक रहा। १८ वीं श० में यहाँ मराठों तथा भरतपुर के जाटों की प्रमुखता रही और १९ वीं श० के आरम्भ से लेकर अब तक यहाँ बृटिश शासन रहा जो सौभाग्य से अभी समाप्त हो गया है। लगभग १४ वीं श० से मथुरा प्रदेश की संज्ञा 'ब्रज' अधिक प्रचलित होगई। वर्तमान ब्रज में मथुरा, आगरा, भरतपुर रियासत के अतिरिक्त समीपस्थ अनेक जिलों तथा रियासतों के भाग भी सम्मिलित हैं।

मथुरा कला का 'स्वर्ण-युग' कुषाण काल के प्रारम्भ से लेकर गुप्त काल के अन्त तक कहा जा सकता है। कला की दृष्टि से तथा तत्कालीन संस्कृति की व्याख्या करने की दृष्टि से यह युग बड़ा गौरव-पूर्ण रहा है। यद्यपि इसके बाद भी लगभग १२०० ई० तक मथुरा की मूर्ति तथा स्थापत्य कलायें जारी रहीं तो भी उनमें वह सजीवता तथा विशिष्टता नहीं मिलती जिसके दर्शन हमें पूर्वोक्त युग में मिलते हैं।

बारहवीं श० के बाद से मथुरा कला का प्रकाश क्षीण पड़ जाता है और हमें ४ शताब्दियों तक उसके दर्शन नहीं होते। पर १६ वीं श० के कला-पुनरुद्धार युग में साहित्य, संगीत तथा चित्रकला के रूप में हमें उसका आलोक पुनः दिखाई पड़ता है।

(१) स्थापत्य—

(क) जैन तथा बौद्धधर्म के स्तूप और मठ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्थापत्य की एक भी समूची कृति आज ब्रज में नहीं बच पाई। मथुरा में जैनधर्म का केन्द्र होने का प्रमाण ई० पू० सातवीं शताब्दी से मिलता है जब कि वर्तमान कंकाली टीले के स्थान पर उनके 'देवनिर्मित स्तूप' की रचना हुई। स्तूप में तीर्थङ्कर या भगवान बुद्ध या उनके प्रमुख शिष्यों के अवशेष—राख, नख, बाल आदि रखे जाते थे। जब भगवान बुद्ध का देहावसान हुआ था तब उनके अवशेष आठ भागों में विभक्त कर प्रत्येक के ऊपर एक-एक स्तूप की रचना की गई थी। मौर्यसम्राट् अशोक के समय बौद्ध स्तूपों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। ऐसे स्तूपों के उदाहरण साँची (भोपाल रियासत) तथा सारनाथ (बनारस के पास) में मिलते हैं। ये स्तूप काफ़ी विशाल हैं। मथुरा में भी इस काल में ऐसे ही बड़े स्तूपों की रचना हुई होगी। ऐसे स्तूपों का नमूना मथुरा से प्राप्त एक आयागपट्ट (नं० क्यू० २) पर सुरक्षित है। ये स्तूप ईंट या पत्थर के बनाये जाते थे। सब से नीचे एक चौकोर आधार बनाया जाता था, उस पर गोलाकार रचना (Drum) और उसके भी ऊपर एक अंड का निर्माण किया जाता था। स्तूप के सब से ऊपर एक डंडे या यष्टि के सहारे छत्र रहता था। कभी कभी आधार के ऊपर ही अंड की रचना की जाती थी और बीच का ड्रम नहीं रखा जाता था। स्तूप का बहिर्भाग विविध भाँति के उत्कीर्ण शिलापट्टों से सजाया जाता था। स्तूप की परिक्रमा के लिये एक वेष्टनी (कठघरा) बनाया जाता था इसे वेदिका कहते थे। इसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर खंभे आड़े पत्थरों (सूची) के द्वारा जोड़े जाते थे। प्रत्येक दो खंभों के ऊपर एक-एक पत्थर रखा जाता था, जिसे उष्णीष या मूर्धस्थ पत्थर कहते हैं। वेष्टनी या वेदिका के ये सब पत्थर विविध भाँति की मूर्तियों से अलंकृत होते थे। वेदिका के चारों ओर एक एक तोरण द्वार रहता था।

स्तूपों के अतिरिक्त मठों या विहारों की भी रचना की जाती थी। जिनमें भिक्षु लोग रहते थे। मथुरा से प्राप्त कई शिलालेखों से ज्ञात होता है कि यहाँ जैनियों तथा बौद्धों के अनेक विहार थे जिनमें

बड़ी संख्या में भिक्षु लोग रहते थे। ह्वेनसांग आदि चीनी यात्रियों के विवरणों से भी यह बात पुष्ट होती है। दुर्भाग्य से मथुरा में विहार का भी कोई नमूना नहीं बचा है परंतु इनकी रचना शैली तक्षशिला, सारनाथ, नालंदा आदि स्थानों में मिले हुए भग्नावशिष्ट विहारों के समान ही रही होगी।

कुषाण-काल (ई० सन् के प्रारंभ से लगभग २०० ई० तक) में मथुरा में स्तूपों तथा विहारों के निर्माण में सबसे अधिक वृद्धि हुई।

(ख) हिन्दुओं के मन्दिर —

मन्दिरों का उद्भव तथा विकास स्तूपों से भिन्न रूप में और सम्भवतः उनसे पहले हुआ। स्तूप तीर्थङ्करों या भिक्षुओं की समाधि स्वरूप होते थे, परन्तु मन्दिर देवता के निवास-स्थान होते थे, इसी से उन्हें देवालय कहा गया है। मन्दिर में एक या अनेक देवों की मूर्तियों का होना तथा उनका पूजा जाना अनिवार्य था। मन्दिरों की रचना भी स्तूप से पृथक थी। शिखर-शैली का होना मन्दिर का निजस्व है जो सुमेरु, त्रिकूट, कैलास आदि पर्वतों से लिया गया है। मन्दिर के वाह्य अलंकरण में देव, यक्ष, किन्नरादि प्रदर्शित होते थे।

जैनों तथा बौद्धों के स्तूपों के ईसा से कई शताब्दी पहले मथुरा में बनने के प्रमाण मिलते हैं। पर मथुरा में हिन्दुओं के सबसे प्राचीन मन्दिर का जो उल्लेख मिला है वह राजा षोडास के राज्य-काल (८० ई० पू०) का है। इससे पता चलता है कि ८० ई० पू० में वासुदेव कृष्ण का चतुःशाला मन्दिर, तोरण व वेदिका सम्भवतः भगवान कृष्ण के जन्मस्थान (वर्तमान कटरा केशवदेव) में बने थे। इसमें सन्देह नहीं कि इसके बहुत पहले भी यहाँ भगवान-कृष्ण के मन्दिर थे। कुषाणों के राज्य-काल में अधिकांश बौद्ध तथा जैन स्तूप, मठ आदि बने। यद्यपि इस काल की अनेक हिन्दू मूर्तियाँ, यूप, स्तंभ आदि प्राप्त हुए हैं, तथापि किसी मन्दिर के निर्माण का उल्लेख नहीं मिला। गुप्तवंशी शासक वैष्णव थे। उनके काल की बनी हुई अनेक वैदिक धर्म संबंधी देवी देवताओं की मूर्तियाँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं। गुप्तों के राज्यकाल में ब्रज में अनेक मन्दिर बने होंगे जिनका इस समय पता नहीं चलता। मध्यकाल में मन्दिर अधिक संख्या में बने, जैसा कि तत्कालीन मन्दिरों के अवशेषों से पता चलता है। महा-

बन का मंदिर भी इसी काल में बना। १२ वीं शताब्दी में मथुरा में अनेक बड़े मंदिर थे। जिनका विध्वंश मुसलमान आक्रांताओं ने कर दिया। उनकी धार्मिक नीति के फलस्वरूप मंदिरों का निर्माण रुक गया। केवल १६वीं शताब्दी में हम अकबर के द्वारा वृन्दावन में मंदिर निर्माण करने की अनुमति पाते हैं। उस काल के चार मंदिर अब भी विद्यमान् हैं।

(ग) स्थापत्य की अन्य कृतियाँ—

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मथुरा स्थापत्य का कोई भी समूचा उदाहरण नहीं बच पाया, जिससे हम प्राचीन नगरों, प्रासादों, घरों, विद्यालयों आदि की निर्माण शैली का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। केवल कुछ उपलब्ध इमारती पत्थरों के द्वारा हम थोड़ी बहुत जानकारी पा सके हैं और वह भी प्रायः मथुरा नगर तथा उसके प्रासादों के सम्बन्ध में। ये प्रासाद या हर्म्य कई तलों के होते थे। जिनपर चढ़ने के लिये सोपानमार्ग (जीने) होते थे। जीने के किनारों (पार्श्व) पर वेदिका स्तंभ लगे रहते थे। हर्म्य में स्नानागार, भोजन-गृह, शयन-गृह, शृङ्गार-गृह, अन्तःपुर आदि पृथक-पृथक होते थे। ऊपर यथास्थान गवाक्ष होते थे, जिनसे स्त्री-पुरुष नीचे होने वाले उत्सवों आदि को झाँकते थे। कुछ मकानों में पक्के फर्श भी होते थे, पर बहुत कम। ऐसे फर्श अब तक केवल एक स्थान (बाजना ग्राम) से मिले हैं।

मकानों में जो चौखट, द्वार, बाजू, खंभे, धन्नी आदि लगते थे उन्हें कमल, मंगल-घट कीर्तिमुख, विविध प्रकार के देवी-देवताओं, यक्ष, किन्नर तथा पशु-पक्षियों की कृतियों से अलंकृत किया जाता था। ईंट की बनी हुई इमारतों पर, जिनकी संख्या मथुरा में बहुत बड़ी थी विभिन्न भाँति की चित्रित ईंटें बाहर की ओर लगाई जाती थीं। नगर के चारों ओर संभवतः मिट्टी की दीवार थी, जिसके भग्नावशेष अब भी मिलते हैं। इस दीवाल में चारों दिशाओं में एक-एक द्वार (गोपुर) रहा होगा। ऐसा गोपुर शुंगकालीन एक शिलापट्ट पर चित्रित है।

ग्राम-निवासी जनसाधारण के मकानों की रचना के विषय में हम प्रमाण के साथ नहीं कह सकते, पर इतना कहा जा सकता है कि वे

अधिकांश में कच्चे होते रहे होंगे। पर उनकी निर्माण-शैली में तथा उनके अलंकरण में कला का काफ़ी ध्यान रखा जाता रहा होगा। मथुरा नगर से दूर ब्रज के गाँवों से जो कलात्मक कृतियाँ प्राप्त हुई हैं और प्राप्त होती जा रही हैं उनमें प्राचीन कलापूर्ण लोक-जीवन की झलक मिलती है। नगर तथा ग्राम जीवन से दूर आश्रमों में रहने वाले साधु-मुनियों की पर्णकुटियों के भी दो नमूने हमें प्राप्त हुए हैं, जिनसे उन पाठशालाओं के कलापूर्ण निर्माण का परिचय मिलता है। इनमें नीचे शमी या बाँस आदि के मज़बूत स्तंभ लगा कर उन्हें ऊपर से कुश, काश तथा पत्तों द्वारा आच्छादित करते थे।

(घ) मुग़लकालीन स्थापत्य—

मुग़लकालीन स्थापत्य में कुछ नमूने ब्रज में बच पाये हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) मथुरा का सती बुर्ज़—

यह ५५ फ़ीट ऊँचा एक चौखंडा बुर्ज़ है। जयपुर के राजा विहारमल की रानी इस स्थान पर सती हुई थी। उनके लड़के राजा भगवानदास ने अपनी माता की स्मृति रूप में सन् १५७० में इसे निर्माण करवाया। इसका शिखर पहले काफ़ी ऊँचा था, पर औरंगज़ेब ने उसे तुड़वा दिया।

(२) गोविंददेव का मंदिर, वृन्दावन—

वृन्दावन के प्राचीन मंदिरों में निर्माण-कला की दृष्टि से यह मंदिर सर्वश्रेष्ठ है। कहा जाता है कि सम्राट अकबर वृन्दावन आने पर यहाँ के स्थान देख बड़े संतुष्ट हुए और उन्होंने यहाँ गोविंददेव आदि चार मंदिर बनवाने की अनुमति दी। इस कार्य में उन्होंने राजकीय-कोष से भी सहायता दी। गोविंददेव के मंदिर का निर्माण कछवाहा नरेश मानसिंह ने अपने दोनों गुरु श्री रूप और सनातन के आदेश से करवाया था। यह मंदिर १२ फ़ुट ऊँची कुर्सी के ऊपर बना है और इसका विस्तार २००×१२० फ़ुट है। औरंगज़ेब ने ऊपर की बुर्ज़ें तुड़वादी थीं, पर नीचे का मंदिर-भाग मज़बूत होने के कारण नहीं टूट सका।

(३) मदनमोहन का मंदिर—

यह शिखराकार मंदिर कालीदह घाट के पास है। इसकी भी

निर्माण-शैली सुन्दर है। इसमें एक विशेषता यह है कि इसके ऊपर का आमलक अब तक सुरक्षित है।

(४) गोपीनाथ का मन्दिर—

मदनमोहन के मंदिर से इसकी बनावट बहुत मिलती-जुलती है।

(५) जुगलकिशोर मन्दिर (केशीघाट के पास)—

यह मंदिर अन्य प्राचीन मंदिरों की अपेक्षा अब अच्छी स्थिति पर है। इसका भी शीर्ष (आमलक) सुरक्षित है। इस मंदिर का निर्माण १६२७ ई० में हुआ।

(६) हरदेव मन्दिर, गोवर्धन—

यह मंदिर भी कछवाहा राजा जयसिंह के द्वारा बनवाया गया और सोलहवीं शताब्दी के स्थापत्य का अच्छा नमूना है।

उपर्युक्त सती बुर्ज तथा पाँचो मन्दिर लाल पत्थर के बने हुए हैं। इनकी रचना-शैली हिन्दू स्थापत्य का सुन्दर उदाहरण है, यद्यपि कहीं-कहीं मुग़ल स्थापत्य का भी सम्मिश्रण पाया जाता है, जो स्वाभाविक था।

(७) छठी पालना या चौरासी मंदिर, महावन—

यह मंदिर महावन के पूर्वी किनारे पर है। वास्तव में महावन ही प्राचीन गोकुल है। जिस स्थान पर यह मंदिर है वहाँ से उत्तर मध्यकालीन अनेक मूर्तियाँ तथा शिलापट्ट मिले हैं। इससे ज्ञात होता है कि लगभग आठवीं शताब्दी में यहाँ एक विशाल मंदिर बना था। उसके गिर जाने पर उसके प्राचीन खंभों का सहारा देकर वर्तमान इमारत औरंगज़ेब के समय में बनाई गई। प्रायः सभी खंभों पर सुन्दरता-पूर्वक, कमल, मंगलघट, कीर्ति मुख आदि आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

(ङ) अन्य इमारतें—

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक सुन्दर और विशाल मंदिरों, हवेलियों तथा छतरियों की रचना हुई। इनके मथुरा, वृन्दावन कामवन आदि के मंदिर तथा घाट, मथुरा, डीग, भरतपुर आदि की हवेलियाँ तथा महल और गोवर्धन, डीग की छतरियाँ उल्लेखनीय हैं।

ये इमारतें तत्कालीन ब्रज में प्रचलित राजपूत-स्थापत्य कला का सुन्दर उदाहरण हैं।

(२) मूर्तिकला—भारतीय विचारधारा में सगुणरूप को विशेष महत्व दिया गया है। भगवान् कृष्ण की लीला भूमि होने के कारण ब्रज में उनके तथा अन्य देवताओं के साकार रूप की उपासना और भी युक्ति संगत थी। मथुरा में मूर्तिकला का प्रारम्भ स्पष्ट रूप से ई० पू० चौथी शताब्दी से मिलता है और उसका विकास बारहवीं शताब्दी तक बराबर चलता है। लगभग १६ शताब्दियों के इस दीर्घकाल में मथुरा की मूर्ति-कला ने असाधारण उन्नति की। जैन, बौद्ध तथा हिन्दू तीनों धर्मों ने ब्रज की पावन भूमि में आश्रय-पाया और तीनों को यहाँ अपनी कला एवं धर्म के विस्तारार्थ सुगम साधन प्राप्त हुए। यहाँ के कला-विदों ने प्रत्येक धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों की कलापूर्ण रचना कर अध्यात्म तथा सौन्दर्य का अपूर्व सामञ्जस्य किया। मूर्तिरूप में भग-वान बुद्ध का पूजन मथुरा से ही प्रारम्भ हुआ। हिन्दू-धर्म के अनेक देवताओं की मूर्तियाँ सबसे पहले मथुरा के कारीगरों ने ही निर्मित कीं। उसी प्रकार जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं का निर्माण भी सम्भ-वतः यहीं से प्रारम्भ हुआ। पाषाण तथा मृत्तिका पर उत्कीर्ण विविध भाँति की सहस्रों मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें से अधिकाँश कुषाण-काल की हैं। ऐसा मालूम होता है कि कुषाण-काल में मथुरा प्रदेश मूर्ति-निर्माण का एक बड़ा आलय और विविध धर्मों की मूर्तियों का अक्षय भण्डार था।

मथुरा में अधिकाँश लाल पत्थर की मूर्तियाँ मिली हैं जो यहाँ के निकटवर्ती फतहपुरसीकरी तथा भरतपुर में अनेक स्थानों की खानों से मिलता है और मूर्ति गढ़ने में बड़ा मुलायम होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ पीतल, काँसे, ताँबे आदि की भी मूर्तियाँ मिलती हैं और एक बड़ी संख्या में मिट्टी की मूर्तियाँ बर्तन आदि मिले हैं। साथ ही अनेक प्रकार की बेलबूटों से युक्त ईंटें भी प्राप्त हुई हैं।

(अ) जैन मूर्ति-कला—

जैन धर्म का मथुरा में सबसे बड़ा केन्द्र शहर के पश्चिम में स्थित कंकाली टीला था। यहाँ सन् १८८८ से १८९१ तक की खुदाई में लगभग एक सहस्र मूर्तियाँ निकली थीं जो सभी लखनऊ-संग्रहालय में

हैं। कंकाली टीलेके अतिरिक्त ब्रज के अन्य स्थानों से भी अच्छी संख्या में जैन मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। ये तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं—

(१ तीर्थङ्कर मूर्तियाँ—

जैनों के देवता तीर्थंङ्कर या जिन कहाते हैं। ये संख्या में चौबीस हैं। मथुरा कला में शुंगकाल से लेकर मध्यकाल के अन्त (लगभग १२०० ई०) तक ये मूर्तियाँ मिली हैं, मुख्यतया आदिनाथ, नेमिनाथ पार्श्वनाथ तथा महावीर की। ये मूर्तियाँ अधिकाँश में ध्यानमुद्रा में रहती हैं ; कुछ सीधी खड़ी हुई भी। कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं जिनमें चारों दिशाओं में से प्रत्येक पर एक-एक तीर्थंकर की मूर्ति है। ऐसी प्रतिमाओं को सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ कहते हैं। मथुरा संग्रहालय में बी० १; बी० ६७, बी० ६८ तथा बी० ४ विशेष दर्शनीय हैं।

(२) देवियों की मूर्तियाँ—

तीर्थंकरों की मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ जैन देवियों की भी मूर्तियाँ मिली हैं, जो या तो गुप्तकाल की हैं या मध्यकाल की। इनमें नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका (डी० ७) तथा ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी (डी० ६) की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

(३) आयागपट्ट आदि—

आयागपट्ट वर्गाकार शिलापट्ट होते थे जो पूजा में प्रयुक्त होते थे और जिनके ऊपर तीर्थङ्कर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिह्न बने रहते थे। मथुरा संग्रहालय में (नं० क्यू० २) एक सुन्दर आयागपट्ट है, जिसे, उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार, वसु नाम की एक वेश्या ने दान में दिया था। इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप तथा वेदिकाओं सहित तोरण-द्वार बना हुआ है। लखनऊ संग्रहालय में आयागपट्टों के कई सुन्दर उदाहरण (नं० जे० २४८, २४९, २५०) रखे हैं। आयागपट्टों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के शिलापट्ट (सिरदल, वेदिकास्तंभ) आदि मिले हैं जिन पर जैनधर्म सम्बन्धी मूर्तियाँ तथा चिन्ह हैं। तीर्थङ्कर मूर्तियों को छोड़ कर अलंकरण के उपकरण हैं यक्ष, यक्षी कमलादि पुष्प, अशोक-चंपकादि वृक्ष, मीन, मकर, गज, सिंह, वृषभ आदि जंतु-जानवर, मंगलघट,

कीर्तिमुख आदि। ये प्रायः वही हैं जो बौद्धकला में तथा बहुत कुछ हिन्दू कला में पाये जाते हैं।

(आ) बौद्ध मूर्तिकला—यद्यपि भगवान् बुद्ध का पूजन मौर्य काल में ही प्रारंभ हो चुका था, तथापि वह उनके चिन्हों की पूजा तक ही सीमित था। भगवान् बुद्ध की मूर्ति का निर्माण उस काल में नहीं हुआ था। लगभग शुंग काल के अन्त तक हम यही दशा पाते हैं। साँची, भरहुत, बोधगया आदि स्थानों से बौद्धधर्म से संबंधित जितनी भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उन पर बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप हाथी आदि का ही पूजन दिखाया गया है, मूर्तरूप में भगवान बुद्ध का पूजन कहीं नहीं। मथुरा से भी जो प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं उन पर इन चिन्हों के साथ बुद्ध के भिक्षापात्र तथा उष्णीष (म० संग्र०, नं० आई १) का पूजन मिलता है। मथुरा में हिन्दूओं के बलराम आदि देवों की मूर्तियाँ कम से कम शुंग काल से पाई जाने लगती हैं। बौद्धधर्मानुयायियों में भी अपने देव को मूर्ति रूप में देखने की उमंग का उठना स्वाभाविक था। इधर कुषाण शासक भी मूर्ति-निर्माण के प्रेमी थे ही। अतएव हम कुषाण काल के आरंभ में मथुरा के तक्षकों द्वारा सर्व प्रथम भगवान् बुद्ध की मूर्ति विशाल काय रूप में निर्मित पाते हैं। इस प्रकार मथुरा की कला में ही हमें मूर्तिरूप में बुद्ध का सर्व-प्रथम दर्शन होता है। बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की ये प्रारंभिक मूर्तियाँ परखम यक्ष की कला-शैली से प्रभावित मिलती हैं। कला के विकास के साथ इन मूर्तियों का निर्माण अधिक सुन्दर तथा अलंकृत होने लगा। और गुप्त काल में हम बुद्ध मूर्ति को दिव्य सौंदर्य तथा आध्यात्मिक गांभीर्य के कलापूर्ण सम्मिश्रण के रूप में अभिव्यक्त पाते हैं।

गंधार कला—जब मथुरा में बुद्ध तथा बोधिसत्व प्रतिमाओं का निर्माण प्रारंभ हो गया तब गंधार प्रदेश के तत्कालीन यूनानी शासकों द्वारा भी इस ओर ध्यान दिया गया और तद्देशीय यूनानी कला में, जिसे 'गंधार कला' कहते हैं मूर्तियों की रचना की गई। यद्यपि गंधार कला के भी वर्ण्य विषय वही थे जो मथुरा कला के तो भी एक विदेशी कला-शैली में वह सौंदर्य ओज तथा तन्मयता का भाव नहीं लाया जा सका जो बुद्ध मूर्तियों के लिए अपेक्षित था। कुछ विदेशी

विद्वान् मथुराकला पर गंधारकला के प्रभावकी बात भी बड़ी दूर तक ले जाते हैं। यद्यपि मथुराकला की कुछ कृतियों पर गंधारकला की छाप दिखाई देती है, पर इन गिनी-चुनी प्रतिमाओं के आधार पर जो विशेषत: तत्कालीन कुषाण शासकों के कारण (जिनके साम्राज्य में गंधार भी शामिल हो गया था) पाई जाती है, यह कहना कि मथुरा कला गंधारकला से काफ़ी प्रभावान्वित हुई युक्ति संगत नहीं। वास्तव में मथुराकला का स्वतंत्र उद्भव तथा विकास है, जिसका स्रोत साँची तथा भारहुत की भारतीय कला में मिलता है न कि उस गंधारकला में जिसका प्रारंभ मथुराकला के प्रारंभ होने के कई शताब्दियों बाद पाया जाता है।

बुद्ध तथा बोधिसत्व प्रतिमाएँ – ज्ञान या संबोधि प्राप्त होने के पहले बुद्ध की संज्ञा 'बोधिसत्व' थी, और उसके बाद 'बुद्ध'। इन दोनों में अंतर यह है कि बोधिसत्व को मुकुट आदि विविध आभूषणों से अलंकृत राज-वेष में दिखाया जाता है, पर बुद्ध को इन से रहित केवल वस्त्र (चीवर) धारण किये हुए। बुद्ध के सिर पर बालों का जटा-जूट (उष्णीष) रहता है जो उनके बुद्धत्व या ज्ञानसंपन्न होने का सूचक है। दोनों प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा में या तो खड़ी मिलती हैं या पद्मासन में बैठी हुईं, विशेषत: कुषाण-काल में। पर गुप्तकालीन मूर्तियाँ अधिकांश खड़ी मिलती हैं। मथुरा संग्रहालय की उत्कृष्ट प्रतिमाएँ नं० ए१, ए२, ए५, ए४०, तथा नं० २७६८ हैं।

मुद्राएँ—बोधिसत्व तथा बुद्ध प्रतिमाएँ हाथों के द्वारा अनेक भावों को व्यक्त करती पाई जाती हैं। इन भाव विशेषों को मुद्रा कहते हैं। मथुरा-कला में निम्न लिखित चार मुद्राएँ मिलती हैं:—

(१) **ध्यानमुद्रा**—इसमें बोधिसत्व या बुद्ध पद्मासन में बैठे हुए तथा एक हाथ के ऊपर दूसरा रखे हुए दिखाये जाते हैं।

(२) **अभय मुद्रा**—इसमें वे दाएँ हाथ को उठा कर उसे कंधे की की ओर मोड़ कर श्रोताओं या दर्शकों को अभय-प्रदान करते हुए दिखाये जाते हैं।

(३) **भूमिस्पर्श-मुद्रा**— इसमें ध्यानावस्थित बुद्ध दाएँ हाथ से भूमि को छूते हुए प्रदर्शित किये जाते हैं। जब बोधगया में उनके तप

को नष्ट करने का प्रयत्न कामदेव द्वारा किया गया तब उन्होंने इस बात की साक्षी देने के लिए कि उनके मन में कोई भी काम-विकार नहीं पृथ्वी को स्पर्श कर उसका आह्वान किया था, जिसे उक्त मुद्रा द्वारा व्यक्त किया जाता है।

(४) धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा—इसमें भगवान् बाएँ हाथ की उँगलियों के ऊपर दाएँ हाथ की उँगलियों को इस प्रकार रखते हैं मानों वे चक्र घुमा रहे हों। यह दृश्य सारनाथ में उनके द्वारा बौद्ध-धर्म के सर्व-प्रथम उपदेश को सूचित करता है, जिसके द्वारा उन्होंने संसार में एक नये धर्म का प्रवर्तन किया।

इनके अतिरिक्त एक 'वरद मुद्रा' भी है जो मथुरा में नहीं मिलती। इसमें भगवान् का दायाँ हाथ हथेली को सामने किये हुए नीचे लटकता है, मानों वे वरदान दे रहे हों।

बुद्ध के जीवन की घटनाएँ—बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियों के अतिरिक्त उनके जीवन की घटनाएँ भी अनेक शिलापट्टों पर चित्रित मिलती हैं, इन्हें जातक कहते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार बुद्ध होने के पहले भगवान् कई योनियों में विचरे। उन्हीं पूर्वजन्मों की कहानियाँ जातक कथाएँ हैं। मथुरा में इस प्रकार के दृश्यों वाले कई पट्ट हैं। (देखिए आई ४)। पूर्वजन्म की घटनाओं के अतिरिक्त गौतम बुद्ध के वर्तमान जीवन की घटनाएँ—उनका जन्म, ज्ञान-प्राप्ति, धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन, परिनिर्वाण स्मृतियाँ भी मथुराकला में चित्रित मिलती हैं। (नं० एच० १, एच० ११ आदि)

(६) वेदिकास्तंभों पर की मूर्तियाँ—स्तूपों का वर्णन करते समय वेदिकास्तंभों का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ उन पर उत्कीर्ण मूर्तियों का वर्णन किया जायगा। इन स्तंभों पर अधिकांश में यक्षियों के चित्रण हैं। मुक्काग्रथित केश-पाश; कर्णकुण्डल, मौक्तिक एकावली तथा गुच्छक हार, केयूर, कटक, मेखला, नूपुर आदि धारण किये हुए ये स्त्रियाँ विविध आकर्षक मुद्राओं में दिखाई गई हैं। कहीं कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है, कोई कोई कंदुक-क्रीड़ा में लग्न है (जे० ६१), अशोक वृक्ष को ताड़ित कर उसे पुष्पित कर रही है (नं २३२५), या निर्झर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरांत तन

ढक रही है (जे० ४), किसी के हाथ में वीणा (जे० ६२) और किसी के वंशी हैं तो कोई प्रमदा नृत्य में तल्लीन है। कोई सुन्दरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है, और नीचे हंस उन पानी की बूँदों को मोती समझ कर अपनी चोंच खोले खड़ा है (नं० १५०६)। किसी स्तंभ (जे० ५) पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है, किसी में संगीतोत्सव का और किसी पर मधुपान का (नं० १५१)। इस प्रकार सैकड़ों मनोरंजक दृश्य इन स्तंभों पर चित्रित हैं। कुछ भगवान् बुद्ध तथा उनके धर्म से संबंधित विभिन्न जातक कहानियों के (नं० जे० ४ का पृष्ठ भाग) और कुछ पर महाभारत आदि के (नं०१५१) दृश्य भी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तंभों पर उत्कीर्ण किये गये हैं। इन वेदिकास्तंभों को शृंगार और सौंदर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए जिन पर कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव-जगत् की सौंदर्य-राशि ला कर उपस्थित कर दी है।

(ई) यक्ष किन्नर आदि की मूर्तियाँ—मथुराकला में यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण आदि की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये सुख-समृद्धि, संगीत तथा विलास के अधिष्ठाता थे। यक्षों की प्रतिमाएँ सबसे अधिक मिली हैं। इनमें सब से महत्वपूर्ण परखम नामक गाँव से प्राप्त तृतीय श० ई० पू० की विशालकाय मूर्ति (सी० १) है। ऐसी कई प्रतिमाएँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ कोरकर बनाई जाती थीं जिससे उनका दर्शन चारों ओर से हो सके। शुंगकाल के अंत में तथा कुषाण-काल में ऐसी ही मूर्तियों के आधार पर विशालकाय बोधिसत्व की खड़ी हुई मूर्तियाँ गढ़ी गईं।

यक्षों में कुबेर तथा उसकी स्त्री हारीती का स्थान बड़े महत्त्व का है। और इनकी अनेक मूर्तियाँ मथुरा में प्राप्त हुई हैं। कुबेर धन के देवता माने गये हैं और बौद्ध, जैन तथा हिन्दू तीनों धर्मों में इनका पूजन मिलता है। कुबेर जीवन के आनंदमय रूप के द्योतक हैं और इसी रूप में इनकी अधिकांश मूर्तियाँ मिली हैं। संग्रहालय में (सी० २, सी० ५ तथा सी ३१) नंबर की कुबेर की उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं, जिनमें वे सुरापान करते हुए चित्रित किये गये हैं। इनके हाथों में सुरापात्र बिजौरा नीबू तथा रत्नों की थैली या नेवला रहता है। हाल में उत्तरकुषाणकाल की कुबेर की एक सुन्दर अभिलिखित मूर्ति प्राप्त

हुई है (नं० ३२३२)। कुबेर के साथ उसकी स्त्री हारीती की भी मूर्ति मिलती है। यह प्रसव की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है और कला में इसका चित्रण बच्चों को साथ लिए हुए मिलता है।

मथुराकला में यक्षियों का बहुत चित्रण मिलता है। इसके विषय में पिछले पृष्ठ में लिखा जा चुका है। इनके अतिरिक्त पूजन या विविध क्रीड़ाओं में संलग्न किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण, विद्याधर आदि भी चित्रित किये गये हैं।

(उ) नाग मूर्त्तियाँ—यक्षों आदि के समान प्राचीन मथुरा में नागों की पूजा मिलती है। इनका भी सम्बन्ध तीनों धर्मों से पाया जाता है। भगवान कृष्ण के भाई बलराम को शेषनाग का अवतार माना जाता है। विष्णु की शय्या भी अनन्त नागों की बनी हुई कही गई है। जैनधर्म में नाग दो प्रधान तीर्थंकरों—पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्व के चिह्न हैं। बौद्धधर्म के अनुसार मुचुलिंद नामक नाग ने ही भगवान बुद्ध के ऊपर छाया की थी तथा नन्द और उपनन्द नागों ने उन्हें स्नान कराया था। रामग्राम स्तूप की रक्षा भी नागों द्वारा की गई थी (देखिए शिलापट्ट नं० आइ० ६)। इस प्रकार तीनों धर्मों में नागों का पूज्य स्थान है। नागों की मूर्तियाँ पुरुषाकार तथा सर्पाकार—दोनों में ही मिलती हैं। इनके अतिरिक्त बलराम की भी मूर्त्तियाँ मिलती हैं जिनके गले में बैजयंती माला आदि आभूषण तथा हाथों में मुसल और वारुणीपात्र दिखाये जाते हैं। मथुरा-संग्रहालय में इस प्रकार की कुषाण तथा गुप्तकालीन कई सुन्दर मूर्तियाँ हैं (देखिए नं० सी० १५, सी० १६ तथा ४३५)। नाग की सबसे महत्वपूर्ण मूर्त्ति नं० सी० १३ है जो पौने आठ फुट ऊँची है। यह छड़गाँव नामक स्थान से प्राप्त हुई थी। नाग की कुण्डलियाँ बड़े ओजपूर्ण तथा ऐंड़दार ढङ्ग से दिखाई गई हैं। इस मूर्त्ति की पीठ पर खुदे हुए लेख से ज्ञात होता है कि यह महाराजाधिराज हुविष्क के राज्य के चालीसवें वर्ष (सन् ११८ ई०) में सेनहस्ती तथा भोणुक नामक दो मित्रों के द्वारा बनवाकर प्रतिष्ठापित की गई। भूमिनाग (नं० २११) तथा दधिकर्ण नाग (नं० १६-१०) की भी मूर्तियाँ मथुरा-संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। बलदेव में दाऊजी की प्रसिद्ध विशालकाय मूर्ति भी कुषाणकाल की महत्वपूर्ण कृतियों में है।

(५) हिंदूधर्म की मूर्तियाँ— हिन्दू मूर्ति-कला के विकास की दृष्टि से मथुरा का स्थान बड़े महत्व का है। यहीं सर्वप्रथम अनेक देवों की मूर्त-रचना की गई। पौराणिक देवों के मूर्ति-विज्ञान के अध्ययन के लिये यहाँ की कला में बड़ी सामग्री है। यहाँ विभिन्न देवताओं की मूर्तियों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

ब्रह्मा— मथुरा संग्रहालय में ब्रह्मा की कुषाणकालीन दो मूर्तियाँ हैं। इनमें सबसे दर्शनीय तथा अद्भुत मूर्ति नं० ३८२ है। भारतवर्ष में ब्रह्मा की यह मूर्ति सबसे प्राचीन है। इसमें तीन मुख एक सीध में दिखाये गये हैं और चौथा बीच वाले सिर के पीछे। बौद्ध मूर्तियों की तरह इसमें भी छाया मण्डल तथा अभय मुद्रा दिखाए गये हैं। ब्रह्मा की मध्यकालीन मूर्तियाँ भी मथुरा से मिली हैं। इनमें महावन से प्राप्त डी० २२ संख्यक मूर्ति उल्लेखनीय है, जिसमें ब्रह्मा अपनी पत्नी सावित्री के साथ बैठे दिखाये गये हैं।

शिव – शिव की भी मूर्ति-पूजा का अति प्राचीन रूप मथुरा में मिलता है। कुषाण शासकों में विम कैडफाइसिस, वासुदेव आदि के सिक्कों पर नंदीसहित शिव की एक, तीन या पंचमुखी मूर्तियाँ मिलती हैं। कुषाण कालीन शिवलिंग की एक मूर्ति मथुरा से मिली है जिसकी पूजा करते हुए शक लोग दिखाये गये हैं (नं० २६६८)। मथुरा में मुख रूप में भी शिव की उपासना बहुत प्रचलित थी। ऐसे कई सुन्दर कुषाण तथा गुप्तकालीन शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण यह है जिसमें लिंग के साथ शिव की खड़ी हुई सम्पूर्ण मूर्त्ति दिखाई गई है। इसमें शिव की चार भुजाएँ हैं तथा वे ऊर्ध्वरेतस हैं। नं० २५२८ की मूर्ति गुप्तकालीन एकमुखी लिङ्ग तथा नं० ५१६ मूर्ति पञ्चमुखी लिंग के अच्छे उदाहरण हैं। उत्तरगुप्तकालीन की २०८४ संख्यक मूर्ति में नन्दी के सहारे खड़े हुए शिव पार्वती पत्थर के दोनों ओर बड़ी सुन्दरता से उत्कीर्ण किये गये हैं। भगवान् शङ्कर के दाहिने हाथ में, जो अभयमुद्रा में है, एक नीलकमल है। नं० २५११ शिव-पार्वती की गुप्तकालीन मूर्त्ति है जिसमें वे कैलास पर्वतपर बैठे दिखाये गये हैं और रावण पर्वत को उठा रहा है। पर्वत का एक कोना उठ जाने से पार्वती की भयभीत मुद्रा तथा शिव का क्रुद्ध भाव दर्शनीय है। गुप्तकाल की अर्द्धनारीश्वर की

मूर्त्तियाँ भी मिली हैं (नं० ३६२, ७७२), जिनमें आधा अङ्ग शिव का और आधा पार्वती का दिखाया गया है।

विष्णु—विष्णु की भी कुषाणकालीन मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं, जो भारत में अन्यत्र नहीं प्राप्त होतीं। ६३३ नम्बर की चतुर्भुजी मूर्ति बड़े महत्व की है। इसका निर्माण कुषाणकालीन बोधिसत्वों से बहुत मिलता है। एक हाथ अभयमुद्रा में है और दूसरे में अमृतघट है। शेष दो हाथों में वे गदा तथा चक्र लिए हैं। इस प्रकार कुषाण काल में हम विष्णु के साथ केवल दो ही आयुध पाते हैं, बाद में शंख तथा पद्म और जुड़ गये। नं० २५२० मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व का शिलापट्ट है जिस पर विष्णु के अर्द्धनारीश्वर रूप का चित्रण है। आधे भाग में विष्णु हैं तथा आधे में राजलक्ष्मी। नं० १०१० भगवान् विष्णु की विराट रूप वाली अष्टभुजी मूर्ति है। परन्तु सबसे अधिक उल्लेखनीय मूर्ति नं० ई० ६ है जो गुप्त-काल की है। इसमें ध्यान मुद्रा में चतुर्भुजी विष्णु दिखाये गये हैं। सिर पर अलंकृत-किरीट मुकुट है। इसके अतिरिक्त वे कुण्डल, मुक्ताहार भुजबन्ध तथा वैजयंती आदि धारण किये हैं। उनके लहरदार वस्त्र बड़े रोचक ढंग से प्रदर्शित किये गये हैं। यह मूर्ति गुप्त-कालीन कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। मूर्ति के ऊपर एक छत्र है जो पूर्व विकसित कमलों तथा पत्र रचना से अलंकृत है। इस मूर्ति के अतिरिक्त २५२५ नं० की विष्णुमूर्ति भी गुप्त कला का सुन्दर तथा अनोखा उदाहरण है। यह नृसिंह-वराह-विष्णु की मूर्ति है। बीच में भगवान विष्णु का मुख तथा अगल-बगल नृसिंह तथा वराह अवतारों के मुख हैं। नं० २८८४ की मूर्ति भी ऐसी ही है, पर उसमें नृसिंह-वराह-विष्णु के अतिरिक्त भगवान के विराट रूप का दर्शन है, जिसमें अनेक देवता, नवग्रह आदि, दिखाये गये हैं। विष्णु की मिट्टी की भी कई सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

कृष्ण-बलराम— दुर्भाग्य की बात है कि भगवान कृष्ण की लीला भूमि ब्रज में उनकी बहुत कम मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उनके जीवन सम्बन्धी जो सबसे प्राचीन मूर्ति मिली है वह ई० दूसरी शताब्दी का एक शिलापट्ट (नं० १३४४) है। इस पर नवजात शिशु कृष्ण को एक सूप में धरकर वसुदेव गोकुल जाने के लिए जमुना पार करते

हुए दिखाए गये हैं। नदी का बोध धारीदार लकीरों तथा जल-जंतुओं के द्वारा बड़ी सुन्दरता के साथ कराया गया है। कृष्ण की मध्य-कालीन (लग० ८ वीं श०) एक मूर्ति प्राप्त हुई है (सं० डी० ४७) जिसमें वे अपनी उँगली पर गोबर्धन पर्वत उठाए हुए चित्रित किये गये हैं। पर्वत के नीचे गौएं तथा ग्वालबाल खड़े हैं।

बलराम की मूर्तियाँ अधिक मिली हैं। सबसे प्राचीन मूर्ति शुङ्ग-काल की है जिसमें वे हल तथा मूसल धारण किए दिखाए गये हैं। यह मूर्ति अब लखनऊ संग्रहालय में है (नं० जी० २१५)। बलराम की कुषाण तथा गुप्तकालीन अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जिनपर वे मुसलवासनीपात्र, पताका आदि लिए हुए अंकित किये गये हैं (नं० सी० १५, ४३५ तथा सी० १६)

स्वामिकार्तिक—शिव के पुत्र स्वामिकार्तिक की भी कई मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें उल्लेखनीय नं० २६२६ तथा नं० ३४७ हैं। पहली पर एक अभिलेख है जिससे पता चलता है कि वह सन् ८६ ई० में बनाई गई थी। इसमें दायाँ हाथ अभयमुद्रा में किये हुए तथा बाएँ में लंबा भाला लिए हुए वे दिखाये गए हैं। दूसरी मूर्ति में वे अपने वाहन मयूर पर चढ़े हुए अङ्कित किये गए हैं। स्वामिकार्तिक की एक बहुत सुन्दर गुप्तकालीन मृण्मूर्ति है (नं० २७६४) इसमें शक्ति धारण किए हुए कुमार मयूर पर बैठे हुए हैं। उनके मुखमण्डल से तेज की भावना टपकती है। ४६६ नं० की मूर्ति भी जिसमें उन्हें शिव तथा ब्रह्मा के द्वारा अभिषेक कराया जा रहा है दर्शनीय है।

गणेश—गणपति की कई मूर्तियाँ मथुरा-कला में प्राप्त हुई हैं। हाल में संग्रहालय के लिए कुषाणकालीन विशाल गणपति की मूर्ति प्राप्त हुई हैं। मध्यकालीन मूर्तियों में नं० २५२ की अष्टभुजी मूर्ति उल्लेखनीय है। इस पर बालगणेश लड्डू लिए हुए नृत्य कर रहे हैं।

इन्द्र—इन्द्र की प्राचीन मूर्तियाँ भी मथुरा-कला की ही देन हैं। कुषाण तथा गुप्त कालीन इन्द्र की मूर्तियाँ भारत में दुर्लभ हैं। मथुरा संग्रहालय में नं० ३६२ की इन्द्र-मूर्ति कला की अद्भुत तथा सुन्दर कृति है। यह कुषाण-काल के प्रारम्भ की है। इस पर हाथ में बज्र लिए हुए इन्द्र खड़े हैं, तथा उनके दोनों कंधों से नाग मूर्तियाँ निकल रही

हैं। इन्द्रदेव के सिर पर सुन्दर किरीट मुकुट है। हाल में अभय मुद्रा में खड़े हुए इन्द्र की एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसमें उनका वाहन हाथी भी है।

कुबेर—कुबेर की पूजा मथुरा में बहुत प्रचलित थी। इनकी मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिली हैं। हिन्दू-धर्म में इन्हें धन का देवता माना गया है। कुबेर की मूर्तियों का वर्णन पीछे यक्ष मूर्तियों में किया जा चुका है।

अग्नि।—भरतीय कला में अग्नि की भी मूतियाँ बहुत कम प्राप्त होती हैं। मथुरा-कला में अग्नि की दो सुन्दर प्रतिमायें मिली हैं। पहली (नं० २८८०) कुषाण-कालीन है और इसे अग्नि की सर्वप्रथम मूर्ति कहा जा सकता है। दूसरी (डी० २४) मध्यकालीन है। दोनों में अग्निदेव के सिर के ऊपर ज्वालाएँ निकल रही हैं। दूसरी में उनका वाहन मेष (मैंढ़ा) भी चित्रित है।

नवग्रह – नवग्रहों के अनेक शिलापट्ट मिले हैं। इनमें से राहु की एक अलग मूर्ति (नं० २८३६) मिली है। जिसमें वे तर्पण करते दिखाये गये हैं।

सूर्य — नवग्रहों में सूर्य का स्थान सबसे अधिक महत्व का है। मथुरा-कला में इनकी अनेक भाँति की मूर्तियाँ मिली हैं। सबसे प्राचीन प्रतिमाओं में वे शक राजाओं की वेषभूषा (उदीच्यवेष) में चित्रित मिलते हैं। नं० २६६ ऐसी ही मूर्ति है। सूर्य के दायें हाथ में कटार तथा बायें में कमल का गुच्छा है। वे दो घोड़ों के रथ पर बैठे हैं। बाद में क्रमशः इन घोड़ों की संख्या ४ तथा ७ हो जाती है। ऐसी अनेक मूर्तियाँ मथुरा से मिली हैं। सूर्य की एक विचित्र मूर्ति सेलखड़ी पत्थर की बनी मिली है (नं० १२५६)। इस पर वे सासानी राजाओं की वेषभूषा में दिखाये गये हैं। नं ८८८ मूर्ति भी दर्शनीय है।

कामदेव — कामदेव की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ पत्थर तथा मिट्टी पर मिली हैं। २६६१ नं० की मृण्मूर्ति पर धनुष तथा पंचवाण धारण किये आकर्षक रूप में उनका चित्रण मिलता है।

हनुमान—हनुमान की केवल एक ही मूर्ति (डी० २७) मिली है जो लगभग ६ वीं श० की है।

देवियों की मूर्तियाँ देवों के साथ ही या अलग उनकी शक्तिरूपा देवियों का भी निर्माण मथुरा की मूर्तिकला में पाया जाता है। लक्ष्मी (नं० २५२०), सरस्वती, पार्वती (नं० २०८४), महिषमर्दिनी (नं० ५४१), सिंहवाहिनी दुर्गा (नं० १७८३), सप्तमातृकाओं (नं० २८७२ तथा एफ ३८ आर १०४) तथा गङ्गा-यमुना (नं० १५०७ २६५६) आदि के अनेक कलापूर्ण चित्रण पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त मातृदेवियों की मौर्य तथा शुङ्गकालीन अनेक सुन्दर मृण्मूर्तियाँ मिली हैं (देखिए नं० १५६२, २२२२, २२४१ तथा २२४३)। ये मूर्तियाँ हाथ की बनी होते हुए भी बड़ी कलापूर्ण हैं।

(ऋ) शक-कुषाण राजाओं की मूर्तियाँ – मथुरा से शक-कुषाण राजाओं तथा शासक वर्ग की अनेक अत्यन्त महत्वपूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं, जो भारत में अन्यत्र कहीं नहीं मिलीं। मथुरा से लगभग ८ मील दूर माट नामक स्थान में कुषाण राजाओं का एक देवकुल था, जहाँ से इन राजाओं की मूर्तियाँ मिली हैं।

(१) विम कैडफीसिस की मूर्ति (नं० २१५)—इस विशालकाय मूर्ति में जिसका सिर नहीं है, महाराज विम सिंहासनारूढ़ दिखाये गये हैं। वे लम्बा चोगा, गुलूबन्द, सलवारनुमा पायजामा तथा चमड़े के तसमों से कसे हुए मोटे जूते पहने हैं। मूर्ति पर राजा का नाम लिखा है।

(२) कनिष्क की प्रतिमा (नं० २१३)—कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट था। इसकी यह मूर्ति खड़ी हुई मिली है। दुर्भाग्य से इसका भी सिर नहीं मिल सका। इस मूर्ति की वेषभूषा विम से बहुत मिलती जुलती है। उसके दायें हाथ में राजदंड तथा बायें में तलवार है। मोटे जूते जिन्हें गिलगिटी बूट कहते हैं, दर्शनीय हैं। इस मूर्ति पर भी राजा का नाम लिखा है।

(३) चष्टन की मूर्ति (नं० २१२)—चष्टन पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप-वंश का जन्मदाता था। इस मूर्ति की भी वेषभूषा उपर्युक्त मूर्तियों के समान है। इसका चोगा जरीदार है। तथा कमरबन्द भी अलंकृत है। इन मूर्तियों के अतिरिक्त उपर्युक्त वेषभूषा धारण किये हुए अनेक शक राजकुमारों तथा सर्दारों की भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

(४) गंधार-कला में शक महिषी की मूर्ति (नं० एफ ४२)-
यह मूर्ति यमुना किनारे स्थित सप्तर्षि टीले से प्राप्त हुई थी और नीले सिलेटी पत्थर पर बनी है। यद्यपि यह 'गंधार-कला' की कृति है जो मथुरा-कला से भिन्न है, तथापि मथुरा में इसका पाया जाना बड़े महत्त्व का है। उसी स्थान से प्राप्त खरोष्ठी के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि मथुरा के महाक्षत्रप राजुल की महारानी कम्बोजिका ने यहाँ बौद्धों के अनेक स्तूप तथा विहार बनवाये। संभवतः यह मूर्ति उसी महारानी की है।

(ऋ) अन्य विविध कृतियाँ—मथुरा-कला में विविध धर्मों से संबंधित अनेक प्रकार की मूर्तियों के मिलने के साथ ऐसी कृतियाँ भी मिली हैं—जिनका संबंध लोक-जीवन से है। ऐसी मूर्तियों में मृण-मूर्तियों का स्थान बड़े महत्व का है। यद्यपि मिट्टी की कुछ मूर्तियाँ देवी देवताओं—विशेषतः हिन्दू धर्म के देवों—की मिली हैं, पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। अधिकांश मिट्टियों की मूर्तियाँ नागरिकों तथा साधारण लोक के जीवन पर प्रकाश डालती हैं। मथुरा-संग्रहालय में इनकी संख्या बहुत अधिक है। ये अधिकतर टीलों में से तथा यमुना नदी से प्राप्त हुई हैं। इनके दो प्रकार हैं। एक तो वे जो मौर्य-काल के पहले या मौर्य-काल में विशेषतः मातृदेवियों आदि की मूर्तियों के रूप में हाथ से गढ़कर बनाई गईं और वे जो साँचों द्वारा निर्मित की गई थीं। दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ शुंगकाल से लेकर लगभग मध्यकाल तक पाई जाती हैं। ई० पू० २०० से लेकर ६०० ई० तक की मूर्तियों की संख्या सबसे अधिक है। इनमें से कुछ तो लड़कों के खेलने के लिए बनती थीं—जैसे हाथी, घोड़े, गाड़ी, आदि खिलौने। शेष मूर्तियाँ वे हैं जिनमें जीवन के के विविध अंगों का प्रदर्शन है जैसा कि हम पाषाण-कला पर पाते हैं। मथुरा-संग्रहालय की कुछ उल्लेखनीय मूर्तियाँ ये हैं—नं० २५६५, जिस पर राजसी ठाठ में एक स्त्री पंखा लिए खड़ी है, नं २८५३ जिस पर कोई राजकुमार रथ पर बैठ कर बाहर जा रहा है। नं० २६२१, जिस पर स्त्री-पुरुष का जोड़ा चित्रित है, नं० २३५०, जिस पर किन्नर-किन्नरी हवा में उड़ान ले रहे हैं। नं० १६२१, जिस पर सुन्दर साड़ी पहने तथा बच्चे को अंक में लिए एक स्त्री है, नं० २५६२, जिस पर शुक-क्रीड़ा का चित्रण है, तथा नं० २४२६ जिस पर सुन्दर

बालों से सज्जित पुरुष-सिर है।

उपर्युक्त मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त मथुरा से नागरिकों, सेठों, धर्मवीरों तथा विदेशी लोगों के अनेक प्रकार के सिर मिले हैं। इस प्रकार के स्थानीय संग्रहालय में नं० २८२७, १५७, १५६६, २५६४, जी० ३४ तथा २१२२ संख्यक सिर कला की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं।

(१) मिट्टी की मूर्तियाँ—इनका उल्लेख ऊपर भी आ चुका है। मौर्य-काल में हाथ की बनी हुई मातृदेवी आदि की मूर्तियाँ मिलती हैं। साँचे का प्रयोग शुंगकाल से मिलता है। इस समय से लेकर लगभग ८ वीं श० तक की विविध भाँति की मृण्मूर्तियाँ मिलती हैं। यह कला साधारण लोक-कला को सूचित करती है, और लोक-जीवन के अध्ययन की काफ़ी सामग्री उपस्थित करती है।

(२) ईंटें—ब्रज से मौर्य तथा शुंग-काल की कुछ ऐसी ईंटें मिली हैं जिन पर लेख हैं। गुप्त तथा मध्यकालीन मिट्टी की ईंटें काफ़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। और उनमें से कुछ पर कमल आदि पुष्प बेल-बूटे तथा अनेक प्रकार के मांगलिक चिन्ह भी उत्कीर्ण मिलते हैं। कुछ पर देवों की मूर्तियाँ भी हैं। इस प्रकार की अलंकृत ईंटों का प्रयोग इमारतों के सामने के भाग पर होता था।

(३) मिट्टी के बर्तन आदि—मथुरा तथा उसके समीपस्थ प्रदेश से प्राचीन मिट्टी के बर्तन भी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं जिनमें घटकार की पुरानी कला का पता चलता है। साधुओं के बर्तन गृहस्थी के बर्तनों से भिन्न होते थे। बर्तनों के अतिरिक्त मिट्टी के तोलने के बाँट, बच्चों के खिलौने तथा कुम्हार के बर्तन बनाने वाले भी प्राप्त हुए हैं।

(४) धातु की मूर्तियाँ—धातु में पीतल तथा काँसे की अधिकांश मूर्तियाँ मिलती हैं जो अधिक प्राचीन नहीं हैं। प्रायः भगवान् कृष्ण के जीवन से संबंधित मूर्तियाँ, शिव-पार्वती, गणेश, विभिन्न अवतारों से चित्रित, पूजा-पात्र, आरती आदि वस्तुएँ मिलती हैं। जैन-बौद्ध धर्म संबंधी धातु की मूर्तियाँ मथुरा-कला में दुष्प्राप्य हैं।

माथुर कला का स्वर्ण युग—ई० सन् के प्रारम्भ से लेकर छठी

श० के अन्त तक का युग माथुर कला का 'स्वर्णयुग' कहा जा सकता है। इसमें भी इस युग का प्रथमार्ध (ई० ३०० तक) विशेष महत्व का है। इस काल के कुषाण शासकों को कला के सौंदर्य-पक्ष ने अधिक आकृष्ट किया। मथुरा के कलाकारों ने अपने संरक्षकों की इस भावना का स्वागत किया और उसकी पूर्ति के लिये कला के शृङ्गार-पक्ष को उन्नत किया। कुषाणकाल के जो तोरण, वेदिका-स्तम्भ, सूची; आयाग-पट्ट आदि तथा मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं उन पर इसके जीते-जागते प्रमाण मिलते हैं। कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव-जीवन—इन दोनों से कला के अलङ्करण की सामग्री को जिस खूबी से छाँटकर अपनी कृतियों पर उसका उपयोग किया है वह सचमुच सराहनीय है। कला के दिव्य आदर्शों से प्रेरित होकर उन्होंने सृष्टि की अनिंद्य रूप-सामग्री से अपनी रचनाएँ विभूषित कर उन्हें शाश्वत रूप प्रदान किया है। उत्फुल्ल कमल आदिक पुष्पों से सुशोभित जलाशय, नदी, पर्वत, झरने तथा अशोक, कदम्ब, नागकेशर, चम्पक, आदि पुष्पित वृक्ष, अनेक भाँति की लता-बेलें, पत्ररचनाएँ, एवं प्रकृति में सानन्द विचरण करने वाले पशु-पक्षी—ये सभी कलाकारों के द्वारा आवश्य-कतानुसार ग्रहण किये गये हैं। इन प्राकृतिक उपकरणों के साथ मानवी रूप का सामंजस्य करना भारतीय शिल्पियों और विशेष कर मथुरा के कलाविदों की एक अनोखी देन है। जिस प्रकार भारतीय साहित्य में संसार को पूर्ण रूप से समझने तथा जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त करने के लिए प्रकृति को एक अनिवार्य भाग माना गया है उसी भाँति भारतीय कलाविद ने भी अपने क्षेत्र में इस सत्य को चरितार्थ किया है। मथुरा की कला में वेदिका-स्तंभों आदि पर हमें इसका सजीव चित्रण मिलता है—कहीं वनों में स्त्री-पुरुषों द्वारा पुष्प-संचय किया जा रहा है, कहीं निर्झरों और जलाशयों में स्नान तथा क्रीड़ा के दृश्य, कहीं सुन्दरियों के द्वारा मंजरी, पुष्प या फल दिखा कर लुभाते हुए शुकादि पक्षियों का, कहीं उनके केशों में गुँथे हुए मुक्ताजालों अथवा उनकी दंत पंक्तियों के लोभी हंसों का और कहीं अशोक, चंपक, बकुल कदंब आदि वृक्षों की डाली थामे सन्नतांगी रमणियों के ललित अंग-विन्यासों का चित्रण है।

सौंदर्य के अनिंद्य साधन के रूप में नारी का चित्रण मथुरा

कला में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मथुरा के कलाकारों को शृंगार के स्वस्थ तथा उत्कृष्ट रूप का सुदर्शन अभीष्ट था, जिसके द्वारा लोक-रंजन के साथ-साथ समाज और धर्म को निष्क्रिय तथा निर्जीव होने से बचाया जा सके। उन्होंने इस स्पृहणीय उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिये नारी के श्री रूप को ग्रहणकर उसे भारतीय वेष-भूषा तथा अलंकारों से मंडित कर लोक के समक्ष रखा। मथुरा के वेदिका-स्तंभों पर विविध आभूषणों से अलंकृत सन्नतांगी रमणियों का झीने रेशमी वस्त्रों से झाँकता सुकुमार यौवन तथा सौंदर्य अंकित किया गया है। जो कलात्मक शृंगार के ज्वलंत उदाहरण रूप में सदैव के लिये अमर रहेगा।

कुषाण तथा गुप्तकाल में नारी का समाज में उचित स्थान मिलता है। तत्कालीन कवि और कलाकार दोनों ने समाज की इस उदात्त भावना को आदृत किया। अश्वघोष, वात्स्यायन, कालिदास आदि की रचनाओं में नारी के वैयक्तिक स्वातंत्र्य तथा समाज में उसकी उचित प्रतिष्ठा का उद्घोष है। तत्कालीन कला के क्षेत्र में भी हमें जिस प्रकार देवों के साथ उनकी शक्ति रूपा देवियों का चित्रण मिलता है उसी प्रकार संभ्रांतवर्ग तथा जन साधारण दंपति का भी। इस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक दोनों क्षेत्रों में हम सहधर्मिणी शब्द को वास्तविक रूप में चरितार्थ किया पाते हैं। मथुरा से प्राप्त अनेक स्तंभों और शिलापट्टों पर धार्मिक यात्राओं, मधुपान, संगीत, तथा अन्य अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं और उत्सवों में हम स्त्री-पुरुष को साथ-साथ भाग लेते हुए पाते हैं। स्त्रियों की स्वतंत्रता का तथा लोक के सौंदर्य-प्रेम का प्रमाण हमें उन कला-दृश्यों में भी मिलता है जिनमें अनेक आकर्षक मुद्राओं में कंदुक-क्रीड़ा अशोक-दोहद, पुष्प-चयन, वेणी प्रसाधन तथा वीणा-वंशी आदि वादन में रतनारियाँ अंकित की गई हैं। इनमें नग्न यक्षियों की भी मूर्तियाँ हैं। स्त्री के नग्न रूप-प्रदर्शन द्वारा कलाकार का उद्देश्य निम्न वासनाओं को उत्तेजित करने का नहीं था, किन्तु उसका अभिप्राय स्वस्थ सौंदर्य के सर्वांगपूर्ण व्यक्तिकरण से था। संसार को त्याग कर संन्यास ले लेने की जो प्रवृत्ति उपनिषद् काल से चली आ रही थी और जिसकी वृद्धि में बौद्ध तथा जैन
की योग दिया था, जिसके प्रवाह में समाज का एक

बड़ा भाग बहने लगा था, उसे नियमित और सीमित करना हमारे आलोच्ययुगीन कवियों और कलाकारों का कर्तव्य था। उन्होंने उसका साहस के साथ निर्वाह किया। उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा जनता को यह समझाने का श्लाघ्य प्रयत्न किया कि यह लोक योंही त्याग देने की वस्तु नहीं है; इसमें प्रकृति तथा मानव द्वारा प्रदत्त आनन्द उचित मात्रा में उपयोग करने की वस्तु है; गृहस्थ धर्म का बिना पालन किये हुए संन्यास ले लेना मानव-जीवन की बिडंबना है तथा इंद्रियों के आनन्दमय विस्तृत जीवन का अनुभव करते हुए भी मनुष्य नीति और धर्म का पालन कर सकता है तथा मोक्ष या निर्वाण का अधिकारी हो सकता है। मथुरा के कलाकार अपने इस सदुद्योग में कृतकार्य हुए, उन्होंने धर्म को शुष्क और निर्जीव होने से बचा कर उसे आनंद-मय लोकजीवन के साथ समन्वित किया, जिसके लिए वे शतमुखी सराहना के पात्र हैं।

मथुरा-कला की लोक-प्रियता—मथुरा की कला इतनी लोक-प्रिय हुई कि उसका प्रभाव भारत के अन्य प्रदेशों में शीघ्र फैल गया। कौशांबी (जिला इलाहाबाद), काशी, श्रावस्ती (सहेत-महेत, जिला गोंडा), पाटलिपुत्र (पटना), अमरावती (मद्रास प्रान्त के गुन्तूर ज़िले में) आदि में इस कला की बड़ी माँग हुई। इन स्थानों में मथुरा की शिला-कृतियों के अनेक नमूने मिलने से इसकी पुष्टि होती है। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि सारनाथ तथा श्रावस्ती में बुद्ध भगवान् की मूर्तियाँ बनवाने के लिए एक बौद्धभिक्षु ने मथुरा से कारीगर बुलवाए और उनके द्वारा सुन्दर मूर्तियों का निर्माण कर-वाया। बृहत्तर भारत तथा विदेशों में भी माथुर कला लोक प्रिय हुई।

शक, यवन, पह्लव आदि विदेशी लोग, जो यहाँ आए मथुरा की कला पर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने इस कला के संवर्धन में आशातीत योग दिया। उनमें से अधिकाँश यहाँ की कला और संस्कृति से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भारतीय धर्म स्वीकार कर लिया और अपने नाम तक भी भारतीय रखने लगे,—वासुदेव, इन्द्राग्नि दत्त, सुदास आदि। कुषाण सम्राट कनिष्क तथा उसके कई वंशज बौद्ध थे। उन्होंने इस धर्म के प्रसार में बड़ा भाग लिया। हुविष्क, विम केडफाइसिस तथा वासुदेव के सिक्कों पर अनेक हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ मिलती हैं।

महाक्षत्रप शोडास तथा महाक्षत्रप राजुल की पत्नी कंबोजिका ने अनेक बौद्ध स्तूप तथा विहार बनवाए। मथुरा संग्रहालय में रखी हुई अनेक मूर्तियों पर विदेशी शक लोग बुद्ध, शिवादि की पूजा करते हुए दिखाए गये हैं।

प्राचीन मथुरा में कला की शिक्षा—मथुरा नगर विविध ललित कलाओं के शिक्षण का केन्द्र था जहाँ भारत के ख्याति-प्राप्त कलाविद् कलाओं की शिक्षा देते रहे होंगे। कौशांबी, काशी, श्रावस्ती, पाटलीपुत्र में तथा सुदूर दक्षिण के अमरावती प्रदेश तक मथुरा की कला-कृतियाँ प्राप्त होती हैं। जिनसे प्रतीत होता है कि इन स्थानों के विद्यार्थी माथुर कला की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए मथुरा के विद्यालय में आते रहे होंगे तथा यहाँ के कलावेत्ता उन-उन स्थानों में अपनी कलाओं के प्रसारार्थ जाते रहे होंगे। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि तक्षशिला के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में वेद, वेदांग, षड्-दर्शन, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र तथा समरशास्त्र की उच्च शिक्षा के अति-रिक्त अठारह प्रकार के शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। ये शिल्प, कृषि, व्यापार, अश्वायुर्वेद, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, विविध उपांगों सहित संगीत, गरुड़विद्या, सूर्यविद्या, भूतविद्या, दैवविद्या, आदि थे। मथुरा में भी इन कलाओं में से अधिकांश की शिक्षा दी जाती रही होगी। अनेक प्रकार की मूर्तियों के अतिरिक्त भाँति-भाँति के मनोहर तोरण, द्वारस्तम्भ, वेदिकास्तम्भ, आदि जो उच्चकला के अमर उदाहरण हैं यह सूचित करते हैं कि इस उत्कृष्ट कला के अध्य-यन अध्यापन का व्यवस्थित प्रबन्ध रहा होगा। कुषाण तथा गुप्त सम्राट् कला के बड़े प्रेमी थे, उन्होंने अवश्य इसके संवर्धन में कला विद्यालयों को साहाय्य तथा प्रोत्साहन दिया होगा। मथुरा के क्षत्रपों के यहाँ पुस्तकालयों के होने का पता चलता है जिनमें शिल्प-शास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रंथ रहते थे।

माथुर कला का विदेशों में प्रसार—माथुर कला का विस्तार भारत तक ही सीमित नहीं था, अपितु इस देश की सीमाओं को लांघ कर विदेशों में भी उसका प्रसार हुआ। अफगानिस्तान के बेग्राम (प्राचीन कपिशा) नामक स्थान में कुछ वर्ष पूर्व खुदाई से हाथीदाँत की निर्मित अनेक सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। इनके

देखने से पता चलता है कि इन पर मथुरा कला का स्पष्ट प्रभाव है।

मेसोपोटैमिया के उर नामक स्थान से एक स्त्री-मूर्ति का मनोहर सिर प्राप्त हुआ है जो अनेक अंशों में माथुर कला से प्रभावित है।

इसके अतिरिक्त पूर्वी देशों—अनाम, सुमात्रा, जावा आदि में गुप्तकालीन तथा मध्यकालीन अनेक हिन्दू मन्दिर तथा बड़ी संख्या में मूर्तियाँ मिलती हैं। जिनमें से अधिकांश पर मथुरा की कला का प्रभाव परिलक्षित होता है।

(३) ब्रज की चित्रकला

दुर्भाग्य से ब्रज की चित्रकला संबंधी बहुत कम सामग्री बच पाई है, जिससे इस कला के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन नहीं किया जा सकता। प्राचीन चित्र कागज, कपड़ा, तालपत्र, चमड़ा, काठ या हाथीदाँत पर बने हुए मिलते हैं। ब्रज की चित्रकला अधिकांश में कागज या कपड़े पर है।

प्राचीन साहित्य में चित्रकला के उल्लेख—भारतीय प्राचीन साहित्य से विदित होता है कि चित्र या आलेखन कर्म प्रधान ललित कलाओं में से था। मुख्यत: तीन प्रकार के चित्र बनते थे—

(१) भित्ति-चित्र - ये दीवारों पर बनाये जाते थे जैसे अजंता और बाघ गुफाओं के चित्र।

(२) चित्रपट—ये कपड़े पर और कभी-कभी चमड़े पर भी बनाये जाते थे। इन्हें दीवारों पर भी टाँग सकते थे।

(३) चित्रफलक—ये लकड़ी, हाथीदाँत आदि पर बनते थे। ई० ११ वीं श० के पहले के केवल भित्तिचित्र ही अब तक मिले हैं, चित्रफलक और चित्रपट नहीं।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में चित्र बनाने वाले के लिए 'चित्रकार' और 'चित्रकर' शब्द मिलते हैं। चित्रकार की कूँची के लिए 'तूलिका' और 'कूर्ची' नाम आते हैं—"स्त्रीषु चित्रकराणां स्यात् कूर्ची लेखन साधने" (नानार्थार्णवकोष)। जिस कमरे या वीथी में चित्र प्रदर्शित किये जाते थे उसे 'चित्रवेश्म' कहते थे। इसके लिये दूसरे नाम 'चित्रशाला' तथा 'चित्रसद्म' भी साहित्य में बहुत मिलते हैं।

वस्तुओं के प्रत्यक्षदर्शन द्वारा, स्मृति द्वारा या कल्पना से चित्रों का निर्माण किया जाता था। कालिदास के 'मेघदूत' की यक्षी अपने पति का स्मृति द्वारा चित्र बनाती हुई कही गई हैं। नागरिकों के मनोरञ्जन का चित्रकला एक प्रधान साधन मानी जाती थी, और वे इसका अध्ययन करते थे। नगर-निवासियों को एक स्थल पर चित्रकलाशास्त्र का ज्ञाता कहा गया है—'आलेख्य शास्त्र विद्भिर्नागर लोकैः'

भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' में अनेक स्थलों पर चित्रकला सम्बन्धी वर्णन आये हैं। इस नाटक का प्रारम्भ ही चित्रशाला से होता है।

जिस प्रकार मूर्त तथा स्थापत्य कला सम्बन्धी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, उसी भाँति चित्रों के सम्बन्ध में मुख्य ग्रन्थ विष्णुधर्मोत्तर पुराण का एक अंश 'चित्रसूत्र' है। इसमें विभिन्न प्रकार के चित्रों के लक्षण तथा विधानादि बड़ी सूक्ष्मता से वर्णित हैं। यह अंश लगभग १० वीं श० का लिखा हुआ है।

चित्रकला के क्षेत्र में ब्रज की कोई अपनी प्राचीन शैली नहीं है। यहाँ के चित्र 'राजस्थानी शैली' या 'राजपूत शैली' के ही अन्तर्गत आते हैं, इस शैली का पहले गुजरात में प्रादुर्भाव हुआ। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में जब ब्रज में सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ तब चित्रकला की ओर भी लोगों की प्रवृत्ति गई। मूर्तिकला का अन्त बारहवीं शताब्दी में ही होगया था, और उसका पुनरुद्धार न हो सका। इसका प्रधान कारण तत्कालीन मुसलमान शासक-वर्ग की नीति ही थी। मंदिरों तथा मूर्तियों को वे किसी प्रकार न देख सकते थे। सौभाग्य से चित्रकला के प्रति यह भाव न था और १६ वीं श० में तथा उसके बाद कई मुसलमान शासकों ने चित्रकला को उत्तेजना भी दी।

ब्रज की क़लाप्रिय ज़नता को भी वास्तु तथा मूर्तिकला के अभाव में चित्रकला का सहारा लेना पड़ा। रामानन्द, कबीर तथा गुरुनानक ने पहले ही धार्मिक तथा साहित्यिक पुनरुत्थान का शंख फूँक दिया था, इधर ब्रजभाषा के कवियों और भक्तों की रचनाओं ने जनता में नवीन चेतना उत्पन्न कर दी। अष्टछाप के कवियों, विशेषकर सूरदास जी ने कृष्ण भक्ति की नदी बहादी और ब्रज को एक बार फिर आनंद से आप्लावित कर दिया।

ब्रज की तत्कालीन चित्रकला में हमें अधिकतर भगवान कृष्ण की लीलाओं से संबंधित चित्र मिलते हैं क्योंकि उस समय के भक्तों को अपने उपास्य देव की विविध लीलाओं संबंधी चित्रों की बड़ी आवश्यकता थी।

१६ वीं शताब्दी के आरंभ के दो ग्रन्थ—'बालगोपाल स्तुति' तथा 'गीतगोविंद'—सचित्र मिले हैं। 'बालगोपाल स्तुति' की सचित्र प्रति बोस्टन म्यूज़ियम में है। इसके चित्रों पर वृक्षों की पत्तियों का सुन्दर आलेखन (पत्र-रचना) हुआ है। इस पुस्तक के चित्रों में तत्कालीन स्त्रियों की वेषभूषा का भी यथार्थ चित्रण हुआ है जो प्रारंभिक कला की अपभ्रंश शैली से नितान्त भिन्न है।

इन प्रारंभिक चित्रों में स्त्री-पुरुषों के जो पहिनावे मिलते हैं वे भारतीय हैं। इन्हीं को अकबर ने कुछ परिवर्तन के साथ 'मुग़ल शैली' में ग्रहण किया।

ब्रज की प्राचीन चित्रकला के जो नमूने मिले हैं वे अधिकांश काग़ज़ पर और कुछ कपड़े पर हैं। इनके विषय प्रायः कृष्ण लीलाओं से ही संबंधित है। जब १७ वीं शताब्दी के अन्त में 'काश्मीरी शैली' का जन्म हुआ तो कृष्णलीला का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया। पहाड़ी शैली में प्रकृति तथा मानव-सौंदर्य का अंकन प्रधान वस्तु है, अलंकरण उतना नहीं। भगवान् कृष्ण की प्रायः समस्त लीलाओं का चित्रण हमें इस शैली द्वारा मिलता है। ये चित्र राजस्थानी शैली के चित्रों से कहीं अधिक आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक हैं। अकबर के समय से जिस नवीन शैली का आरंभ हो गया था उसे 'मुग़लशैली' कहते हैं, इसमें ईरानी शैली की प्रमुखता है और कुछ राजस्थानी शैली का भी प्रभाव है। मुग़लशैली में भी हमें कृष्ण लीला संबंधी अनेक चित्र मिलते हैं। परन्तु सबसे अधिक सुन्दरता पहाड़ी शैली में ही मिलती है। इसमें भाव भंगी, मुद्राएँ, कृष्ण का नीरद वर्ण, वस्त्रों की फहरान, मुकुट आदि के साथ-साथ प्रकृति के चित्रण बहुत सफल हुए हैं। अजंता-युग के बाद पहाड़ी शैली ने ही भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त किया है।

ब्रज की आधुनिक चित्रकला में साँझी, कदली-पत्र-रचना तथा वस्त्रों की छपाई उल्लेखनीय हैं।

(४) ब्रज का संगीत

भारत में संगीत का उदय वैदिक-काल के पहले से मिलता है। सिंध प्रान्त में स्थित मोहेंजोदरो नामक स्थान से एक नर्तकी की बड़ी सुन्दर काँसे की मूर्ति मिली है, जो लगभग ५५०० वर्ष पुरानी है। वैदिक-काल में संगीत का प्राचुर्य सामवेद से सिद्ध होता है। इस वेद का अधिकांश भाग धार्मिक कृत्यों के अवसर पर गाये जाने वाले मंत्र हैं। धीरे-धीरे संगीत का महत्व समाज में बहुत बढ़ा और भारतीय ललित-कलाओं में उसे सर्वप्रथम स्थान दिया गया। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में जहाँ चौंसठ कलाओं का वर्णन किया है वहाँ सर्व प्रथम 'गीतम्-वाद्यम् तथा नृत्यम्' का उल्लेख किया है। अन्य कलाएँ इनके बाद आती हैं। इन तीनों कलाओं का सम्मिलित नाम 'नाट्य' है—'नृत्यगीतवाद्यम्-नाट्यम्'। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सभी कलाओं के ऊपर संगीत की श्रेष्ठतासिद्ध की है। भर्तृहरि ने संगीत को मानव-जीवन का एक अपरिहार्य अंग माना है, जिसके न होने से मनुष्य पशु की कोटि में आ जाता है—

'साहित्य संगीत कलाविहीनः
साक्षात् पशु पुच्छ विषाणहीनः।'

महाकवि कालिदास अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर संगीत का गुणगान करते हैं। कर्णेन्द्रिय के आनंद द्वारा लोकानुरंजन की प्रबल शक्ति संगीत में है—'आर्ये किमन्यदस्याः परिषदः श्रुति प्रमोदहेतोर्गीतात्करणीयमस्ति' (अ० शाकुन्तल—१, ३) तथा—'तवास्मि गीत रागेण हारिणा प्रसभंहृतः।'

प्राचीन साहित्य से विदित होता है कि संगीत की शिक्षा बालक बालिकाओं के लिये अनिवार्य होती थी। उन्हें नाट्यशालाओं में इस कला को देखने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। यह दशा लगभग सातवीं शताब्दी तक पाई जाती है। इसके बाद संगीत का प्रसार संकुचित होता जाता है।

ब्रज का प्राचीन संगीत

वास्तु तथा मूर्ति कला में—ब्रज जैसे मनोहर प्रदेश में, जहाँ भगवान् कृष्ण ने अनेक मधुर लीलाएँ कीं और जहाँ का लोक-

जीवन कलात्मक रहा, संगीत का प्रवाह अनिवार्य था। ई० पू० ३०० से पहले के पुरातत्व संबंधी अवशेष हमें ब्रज प्रदेश से नहीं प्राप्त हो सके, अन्यथा संगीत के संबंध में उन अवशेषों द्वारा कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती। ई० पू० ३०० से लेकर लगभग ६०० ई० तक की जो मूर्तियाँ आदि मिली हैं उनसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वहाँ संगीत का स्थान बहुत ऊँचा था, और ब्रज के निवासियों के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का संगीत एक अपरिहार्य अंग था। स्थानीय पुरातत्व संग्रहालय में सैकड़ों शिलाखंड ऐसे रखे हैं जिन पर मनोविनोदार्थ वंशी, वीणा आदि बजाती हुई वनिताएँ, यात्रोत्सवों में साथ-साथ गाते-बजाते हुए स्त्री-पुरुष तथा अनेक प्रकार के नृत्यों में संलग्न नारियाँ अँकित हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

नर्तकी यक्ष की मूर्ति (नं० जे० २)—यह सुन्दर मूर्ति एक वेदिकास्तंभ के ऊपर उकेरी हुई है। यक्षी नृत्य की मुद्रा में खड़ी है। वह मोटा गुलूवन्द, कर्णफूल, मुक्ताहार, अंगद (बाजूबंद), कटक (हस्ताभूषण) तथा नूपुर (पैर के आभूषण) पहने हैं। उसकी कमर पर एक चौड़ी मेखला है उसके कुछ ऊपर कटि प्रदेश पर वह एक वस्त्र कस रही है।' सिर मुक्ताग्रथित भारी केशपाश है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के जूड़े को धम्मिल्ल कहा गया है। नर्तकियों की इस प्रकार की वेषभूषा भारत के नाट्यशास्त्र तथा संस्कृति के अन्य ग्रन्थों में भी मिलती है। यह मूर्ति ई० पू० दूसरी शताब्दी की है और तत्कालीन मथुरा की नर्तकियों का एक सुन्दर उदाहरण है।

(२) लखनऊ संग्रहालय की नर्तकी मूर्ति (नं० बी० ७५)—यह मूर्ति भी एक वेदिकास्तंभ पर अङ्कित है। वह कटि से लेकर घुटनों के कुछ ऊपर तक वस्त्र पहने हुए है। शेष भाग नग्न है। आभूषणों में वह कर्णकुण्डल, गुलूबन्द, एकलड़ी हार (एकावली) कटक तथा मोती नूपुर (झाँझ) पहने है। नृत्य करते-करते उसने अपने दोनों घुटने जमीन पर टेक दिये हैं। दाँया हाथ नाभि के सामने आगया है और बाँया सिर के ऊपर उठा है। नृत्य के वेग से उसकी एकावली हिल-डुल गई है। उठे हुए पैरों से गिरकर झाँझ नीचे आ गई है। नर्तकी का भाव बड़ा ही आकर्षक है। यह कुषाणकालीन (प्रथम या दूसरी शताब्दी की) कृति है।

(३) **अशोक दोहद का दृश्य** (म० सं० जे० ५५) नर्तकी ने बाएँ पैर के घात द्वारा अशोक वृक्ष को पुष्पित कर दिया है। वह अशोक के एक फूल को दाएँ हाथ से पकड़ कर अपनी सफलता पर गर्वान्वित हो रही है। कालिदास ने इस सुन्दर भाव को निम्नश्लोक में व्यक्त किया है—

'एक: सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी'

(मेघदूत, २, १८)

(४) **असि नृत्य** (लख० सं०, जे० २७५)—कदम्ब वृक्ष के नीचे खड़ी हुई नटी बाएँ हाथ में तलवार पकड़े है तथा दाएँ हाथ से कदम्ब की डाली को झुका कर उसके पुष्पों से अपने केशों को ग्रथित करने का अभिनय कर रही है। (कुषाणकाल)

(५) **प्रेमोन्मत्ता का नृत्य** (लख० सं०, बी० ६२)—शुक द्वारा अपने प्रेमी का मिलन समाचार पाकर सुन्दरी हर्षोन्मत्त होकर नृत्य कर रही है। कामदूत शुक उसकी नीवी को खोलकर उसे किसी आनन्द का सन्देश दे रहा है। (कुषाणकाल)

(६) **धर्म और संगीत** (लख० सं० जे० २६८)—इस स्तंभ पर धर्म और संगीत का मनोहर सम्मिश्रण दिया गया है। ऊपर के पंडाल पर दंपति स्तंभ की प्रदक्षिणा दे रहे हैं, नीचे खपड़ैल के तले नृत्य हो रहा है। नृत्य में ध्यान देने की बात है कि आभूषणों से सुसज्जित एक नर्तकी नृत्य कर रही है और दो खड़ी हुई स्त्रियाँ ताल दे रही हैं। नीचे बैठी हुई दो बनिताएँ ढोलक बजा रही हैं।

(कुषाणकाल)

(७) **यात्रोत्सव** (मथु० सं० नं० आई० ३८२)—प्रस्तुत शिलाखंड पर नगर द्वार से बाहर निकल कर गाते बजाते धर्म यात्रा में जाते हुए लोग दिखाए गये हैं। तीन व्यक्ति बड़े डफले बजा रहे हैं और बीच में एक बालक शंख बजाता हुआ जा रहा है।

(प्र० श० ई० ५०)

(८) **मथुरा संग्रहालय में**—यात्रोत्सव का एक दूसरा दृश्य छोटे से पत्थर के टुकड़े पर चित्रित है, जो दुर्भाग्य से कुछ टूट भी गया है। इसमें एक पुरुष वीणा बजाते हुए चल रहा है उसके पीछे

वाला पुरुष वंशी बजा रहा है। फिर हाथ जोड़े एक स्त्री है और उसके पीछे दो बालक तथा एक पुरुष हाथ जोड़े आ रहे हैं। लगभग ३६ शती।

(६) वीणावादिका (म० सं०, जी० ४८)—इस पर ताड़वृक्ष के नीचे एक पर्यंक पर बैठी हुई स्त्री वीणा पर तान दे रही है।

(१०) वंशीवादिकाएँ (मथु० सं०, एफ १७, १८ तथा २२)—(क) पुष्पित वृक्ष के नीचे खड़ी हुई विविध आभूषणों से सुसज्जित वनिताएँ बंशी बजा रही हैं।

(११) नं० ४०५ पर नृत्योत्सव में संलग्न कुटुम्बिनी स्त्रियों का चित्रण है।

(१२) इसी प्रकार शिलापट्ट नं० २७६ पर बाजे-गाजे समेत पूजनार्थ जाते हुए एक राजकुमार दिखाया गया है।

(१३) अन्तःपुर में संगीत—इस शिलापट्ट पर तीन महिलाएँ अंकित हैं—दो मोढ़ों पर आसीन हैं और तीसरी खड़ी है। मोढ़े पर बैठी हुई एक स्त्री सप्ततंत्री (सात तारों वाली) वीणा बजा रही है और उसके सम्मुख बैठी हुई स्त्री कोई गाना गा रही है। दाहिने हाथ के द्वारा वह तान मिलाती हुई प्रतीत होती है। खड़ी हुई स्त्री वंशी बजाने में रत है।

(१४) पवाया से प्राप्तमूर्ति पर संगीत का दृश्य—यह मूर्तिखंड यद्यपि पवाया (प्राचीन पद्मावती, ग्वालियर) से मिला है, तथापि इस पर मथुरा कला का प्रभाव दिखाई देता है। शिलापट्ट के मध्य में एक युवती अत्यन्त सुन्दर भावभंगी में नृत्य कर रही है। उसके स्तनों पर एक लम्बा वस्त्र (कुचपट्टिका) बँधा हुआ है, जिसका एक छोर लटक रहा है। बाँए हाथ में पोहुँची से लेकर कुहनी तक चूड़ियाँ भरी हैं। दाहिने हाथ में एक या दो ही चूड़ियाँ हैं। नर्तकी कमर के नीचे एक अत्यन्त चुस्त धोती पहने है, जिस पर दोनों ओर किंकिणियों की झालरें लटक रही हैं। पैरों में सादे पतले कड़े हैं। कानों में झूमरदार कर्णफूल हैं। इस नर्तकी के चारों ओर नौ स्त्रियाँ विविध वाद्य बजाती हुई दिखाई गई हैं, पर उनका प्रसाधन

इतनी बारीकी से नहीं दिखाया गया। ये वाद्य बजानेवाली स्त्रियाँ गद्दियों पर आसीन हैं। टूटे हुए बाएँ कोने में एक स्त्री-मूर्ति का केवल एक हाथ बच पाया है, शेष शरीर टूट गया है। वाद्यों में दो वीणाएँ हैं। दाहिनी ओर की वीणासम्राट् समुद्रगुप्त के सिक्कों पर पाई गई वीणा के समान है और सप्ततंत्री वीणा है। बाईं ओर का वाद्य आजकल के वायोलिन जैसा है। इसे नवतंत्री या विपंची वीणा कह सकते हैं। एक स्त्री ढपली बजा रही है, उसके बाद की स्त्री पंखा या चामर लिए है, फिर एक स्त्री मंजीरा बजा रही है। उसके समीप की स्त्री बिना वाद्य के है। इसके बाद मृदंगवादिनी है। कोने की टूटी मूर्ति के बाद की स्त्री वेणु या वंशी बजा रही है। बीच में दीपक जल रहा है जिससे प्रकट है कि संगीत रात्रि को हो रहा है। इन वनिताओं के केश-विन्यास विविध ढंग के हैं। यह शिलापट्ट गुप्तकालीन संगीत-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। (हरिहर निवास द्विवेदी—ग्वालियर राज्य में प्राचीन मूर्तिकला-विक्रम स्मृति ग्रंथ; पृ० ७०५–६)

ऊपर ब्रज की प्राचीन वास्तु तथा मूर्ति कला से प्राप्त थोड़े से ही संगीत-उदाहरण दिये गये हैं। परन्तु उनसे तत्कालीन नृत्य तथा वाद्य यंत्रों के संबंध में कुछ आभास मिल जाता है। इन कलाकृतियों पर से ब्रज के प्राचीन वाद्य तथा नृत्य के संबंध में अन्वेषण करना सचमुच बड़े महत्व का कार्य होगा। मोटे रूप में इतना कहा जा सकता है कि ये उदाहरण भरत आदि प्राचीन नाट्यकारों द्वारा प्रचारित संगीत के नियमानुसार ही हैं।

भरत ने नाट्यशास्त्र में दो प्रकार की मुख्य वीणाओं का वर्णन किया है—सप्ततंत्री तथा नवतंत्री—

'सप्ततंत्री भवेच्चित्रा विपंची नवतंत्रिका।
विपंची कोणवाद्या स्यात् चित्रा चांगुलिवादना ॥'

गीत तंत्री स्वरों के अनुकूल ही चलते थे। इस प्रकार के गीत के लिये 'तंत्रीस्वर विमिश्रत गीत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'काचिद्योषिदुपवीणयति' 'उपवीणयती योषित्' आदि कथन मिलते हैं। जिनसे पता चलता है कि स्त्रियाँ वीणा बजाने में निपुण होती थीं। अंतःपुर का वर्णन करते हुए बाणभट्ट ने कादंबरी में कन्याओं द्वारा वंशी वीणा-वादन का उल्लेख किया है, जिससे संगीत

की विविध प्रकृतियों का बोध होता है। यथा—

'वेणुवाद्येषु चुम्बरव्यतिकरान्'
'वीणासु कररुह व्यापारान्, आदि।
'अशोक तरु ताडनेषु चरणाभिघातान्

से नर्तकियों द्वारा अशोक दोहद का भी पता चलता है। नर्तकियों का नृत्य के समय घुँघुरू युक्त नूपुर तथा मेखला आदि बजनेवाले आभूषणों का पहिनना आवश्यक था। महाकवि कालिदास ने मेघदूत में वरांगनाओं के नृत्य का वर्णन करते हुए लिखा है—'पादान्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतैः, (मेघ०, १, ३६) अर्थात् संध्या समय नृत्य करती हुई वेश्याओं की करधनी के घुँघुरू बड़े मीठे शब्द से बज रहे होंगे।

कालिदास के विरही यक्ष की कांता घुँघुरूदार कड़े वाले हाथों से साँझ के समय ताली बजा-बजाकर मयूर को नचाया करती थी। (मेघ०, २, १६,)

'तालैः शिंजावलय सुभगैर्नर्तितः काँतया मे
यामध्यास्ते दिपसायिगमे नीलकंठः सुहृद्धः।'

संगीत का उपर्युक्त मनोरंजक उन्मुक्त रूप जो कला और साहित्य दोनों में मिलता है ब्रज में कब तक चला, इसके विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है, तथापि इतना कहा जा सकता है कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व तक, अर्थात् लगभग १२ शताब्दी के अन्त तक, यहाँ प्राचीन संगीत की धारा बहती रही होगी, यद्यपि गुप्त-काल (६०० ई०) के बाद की संगीत परिचायक मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त हुई हैं। यह निर्विवाद है कि गुप्तकाल तक ब्रजभूमि कलाओं के क्षेत्र में अग्रणी रही। १२वीं शताब्दी के बाद से १६वीं श० के मध्य तक ब्रज-भूमि पर लगातार एक के बाद दूसरा आक्रमण होता रहा और यहाँ की संस्कृति को गहरा धक्का पहुँचता गया। इस राजनैतिक अशांति के फलस्वरूप संगीत का ह्रास स्वाभाविक था। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के साथ संगीत का आगमन एक बार फिर ब्रजभूमि पर हुआ। उस संगीत की परंपरा उसके प्रधान अंग 'रास' के समेत अब तक ब्रजमंडल में जीवित है।

रास—रास ब्रज की अनोखी वस्तु है। इसमें संगीत के तीनों अंगों—

गीत, वाद्य तथा नृत्य का सम्मिश्रण है। अतः रास को ललितकला की एक विशिष्ट वस्तु कहना अनुचित न होगा। इसके द्वारा जिस सुन्दरता से ब्रज का साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक जीवन अभिव्यक्त किया जा सकता है वैसा अन्य किसी एक साधन द्वारा नहीं।

रास का प्रारंभ—ब्रज में रास का जो वर्तमान रूप है उसके आरंभ होने की निश्चित तिथि विवादास्पद है। इसका प्रारंभ लगभग ई० सोलहवीं शताब्दी के मध्य से माना जाता है। ऐसा प्रचलित है कि निम्बार्क संप्रदाय के अनुयायी श्री घमंडदेव ने जो श्री हरिव्यास-देव के शिष्य थे रास का प्रारंभ किया। खेद है कि इनके विषय में ज्ञातव्य बातें नहीं प्राप्त हो सकीं। केवल 'रास सर्वस्व' नामक ग्रन्थ से इतना पता चलता है कि घमंडदेव ने करहला निवासी उदयकरण तथा खेमकरण नामक दो ब्राह्मण भाइयों की सहायता से रास का आरंभ किया।

ब्रज-निवासी स्वर्गीय श्री राधाकृष्ण स्वामी रास के विशेषज्ञ थे, उन्होंने उक्त 'रास-सर्वस्व' नामक एक पुस्तक की रचना भी की है। इसमें रास की प्राचीनता का वर्णन आया है और शांडिल्य रास सूत्राणि, रासोल्लासतंत्र, वृहद्गौतमीय तंत्र, राधातंत्र, रहस्यपुराण आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों का, जिसमें रास संबंधी वर्णन आये हैं, उल्लेख मिलता है। दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों में से कोई भी उपलब्ध नहीं हो सका, अन्यथा रास के संबंध में अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता चल सकता।

उक्त 'राससर्वस्व' में एक स्थल पर यह भी लिखा है कि नारायणभट्ट ने सं० १७१४ में वल्लभनर्तक तथा करहला वासी राम-राय व कल्याणराय—दो ब्राह्मणों की सहायता से रास का आरंभ किया। इन दोनों बातों से यही संभव प्रतीत होता है कि श्रीघमंडदेव तथा नारायणभट्ट दोनों का ही रास के प्रारंभ करने में हाथ रहा है। यह अभी तक पूर्ण निश्चित नहीं कि दोनों समकालीन थे या नहीं।

श्री नारायणभट्ट का नाम बड़े महत्व का नाम है। इन्होंने न केवल रास का आविष्कार किया अपितु अनेक ग्रन्थों की रचना कर ब्रज के वैभव को भारत में फैलाया, प्राचीन लीला-स्थलों की खोज की तथा ब्रज चौरासी कोस यात्रा का आरंभ किया। कहा जाता है कि

श्री चैतन्य महाप्रभु की परंपरा में गोपालभट्ट हुए और उनके शिष्य नारायणभट्ट हुए और उन्होंने बरसाने के पास ऊँचे गाँव में रास की "बूढ़ी लीला" प्रारंभ की। बूढ़ी लीला में 'नौकालीला' तथा 'उद्धव-लीला' उत्तम कही जाती हैं।

श्री प्रभुदयाल मीतल ने हाल में नारायणभट्ट पर एक खोजपूर्ण निबंध लिखा है जो ब्र० भा० (आ० आ० मा० २००३, पृ० ६-११) में छप चुका है। भट्ट जी को संस्कृत में लिखी हुई "श्रीनारायणचार्य चरितामृतं" नामक एक जीवनी मीतल जी को मिली है जिसके आधार पर उन्होंने भट्ट जी का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त लिखा है। उसका सारांश यह है—

भट्टजी के पूर्व पुरुष दक्षिण में मद्रास के रहने वाले भृगुवंशी तैलंग ब्राह्मण थे। वे यादव संप्रदायी तथा कृष्ण भक्त थे। इसी वंश में उत्पन्न रंगनाथ जी के छोटे पुत्र नारायणभट्ट हुए। इनका जन्म सं० १५८८ की वैशाख शु० १४ (नृसिंह चौदस) को हुआ। [कुछ लोगों ने इनका जन्मकाल सं० १६२० तथा कुछ ने सं० १६८८ लिखा है।]

बाल्यकाल से ही नारायणभट्ट भगवान् कृष्ण के भक्त थे, १२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'ब्रज प्रदीपिका' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। लगभग १६ वर्ष की अवस्था में वे गोवर्धन आये, फिर राधाकुण्ड जा कर वहीं रहने लगे। यहाँ श्री चैतन्य के अनुयायियों से इनकी भेंट हुई और श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी से इन्होंने सांप्रदायिक रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया। राधाकुंड में रह कर इन्होंने निम्न सात ग्रन्थों की रचना संस्कृत में की—

१—ब्रजदीपिका, २—ब्रजभक्तिविलास, ३—व्रतोत्सव चंद्रिका, ४—ब्रजमहोदधि, ५—ब्रजोत्सवाह्लादिनी, ६—वृहत्ब्रजगुणोत्सव, ७—ब्रजप्रकाश।

इसके बाद वे बरसाने के पास ऊँचे गाँव या ऊँचा गाँव में रहने लगे जहाँ उन्होंने अन्य अनेक भक्ति ग्रन्थों की रचना की जो सभी संस्कृत में है।

'ब्रज-भक्ति-विलास' नामक पुस्तक में भट्टजी ने ब्रज चौरासी कोस में स्थित वन, उपवन तथा अन्य दर्शनीय स्थानों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों की तरह उन्होंने भी

ब्रज के अनेक प्राचीन तीर्थों की खोज की। इन स्थानों पर अकबर के मन्त्री टोडरमल ने पक्के कुण्ड, तालाब तथा मन्दिर बनवाये।

श्रीनारायणभट्ट का समकालीन वल्लभ नामक एक नर्तक था, जो गान वाद्य यथा नृत्य तीनों में निपुण था। वह बादशाह अकबर की सेवा से अवकाश लेकर वृंदावन में रहता था। नारायणभट्ट ने रामलीला के लिये उसकी सहायता प्राप्त की। ब्राह्मणों के दश सुन्दर बालक इस कार्य के लिये नियुक्त किये गये और उन्हें वल्लभ ने गान-नृत्य की शिक्षा दी। एक बालक कृष्ण बनाया गया। दूसरा राधिका और शेष आठ राधाजी की आठ सखियों का अभिनय करने के लिये सिखाये गये। ब्रज में जहाँ श्रीकृष्ण जी ने जो-जो लीला की थी वहाँ वही लीला की गई। राजा टोडरमल ने उन-उन स्थानों पर भी पक्के रासमंडप बनवा दिये।

संभवतः रास का प्रथम अभिनय करहला ग्राम में हुआ। वहाँ भगवान कृष्ण के मुकुट की पूजा के लिये एक मंदिर भी स्थापित किया गया था।

वल्लभ द्वारा प्रचारित नृत्य वर्तमान रासधारियों में प्रायः ज्यों के त्यों प्रचलित हैं।

ब्रज के तीर्थों का उद्धार तथा रास का प्रारंभ हो जाने पर भट्टजी ने भाद्रपद शुक्लपक्ष में अपनी मण्डली के साथ ब्रज की यात्रा प्रारम्भ की, जिसमें स्थान-स्थान पर दर्शन कथा-वार्त्ता और रास की धूमधाम थी। यह यात्रा ब्रज में अबाध गति से अब तक चली आ रही है।

रास का प्रधान रूप भगवान कृष्ण का अनेक गोपियों के साथ एक मण्डल में नृत्य करना है। इस भाव को इस सूत्र द्वारा कहा गया है—'बहुनर्तकी युक्तो नृत्यविशेषो रासः'। इसका पूर्व रूप हल्लीसक या हल्लीशक नृत्य है—

नर्तकीभिरनेकाभिर्मण्डले विचरिष्णुभिः।
यत्रैको नृत्यति नटस्तद्वै हल्लीसकं विदुः॥

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' (अधि० २, अ० १०, २५) में कहा है—

हल्लीशक क्रीडनकैर्गायनैर्नाट्यरासकैः।

इस पर टीकाकार यशोधर ने अपनी जयमंगला टीका में यह व्याख्या की है—

मंडलेन च यत्स्त्रीणां नृत्तं हल्लीसकं तुतत्।
नेता तत्र भवेदेको गोपस्त्रीणां अथा हरिः ॥

अर्थात् एक नेता का अनेक स्त्रियों के साथ मण्डल में नृत्य करना हल्लीसक है। जैसे गोपियों के साथ कृष्ण का।

'नाट्यरासक' को टीकाकार ने गीतविशेष कहा है—'नाट्यरासकैरन्योन्यदेशीयैः, तेषां श्राव्यत्वाद्गीत विशेषणमेतत्'। 'अन्योन्यदेशीयैः' व्याख्या से ज्ञात होता है कि यह गीत विभिन्न देशों का अलग-अलग था। 'साहित्य-दर्पणकार' ने 'रासक' को एक अङ्क में समाप्त होने वाला छोटा नाटक माना है (सा० द०, अ० ६, पृ० ५४८)। हो सकता है कि इसी 'रासक' शब्द से 'रास' की उत्पत्ति हुई हो। विश्वनाथ ने अपना 'साहित्य-दर्पण' १३५० ई० के लगभग लिखा, जबकि वर्तमान रास की उत्पत्ति १५६० ई० के लगभग हुई।

चित्रकला में हल्लीसक के उदाहरण— (क) अजन्ता की एक गुफा में ई० पाँचवीं शताब्दी का एक मनोरञ्जक चित्र मिला है। इसमें एक पुरुष के साथ मण्डल में अनेक स्त्रियाँ नृत्य करती हुई चित्रित की गई हैं। सभी विविध प्रकार के आभूषणों से सज्जित हैं। पुरुष नृत्य करता हुआ भाव दिखा रहा है। स्त्रियाँ वंशी आदि बजाती हुई प्रदर्शित की गई हैं।

(ख) ग्वालियर राज्यान्तर्गत बाघ (प्राचीन व्याघ्र) गुफा में हल्लीसक नृत्य का एक बहुत ही सुन्दर दृश्य चित्रित है, जो लगभग सातवीं शताब्दी का है। इसमें लम्बा कुर्ता, पायजामा तथा ऊँची टोपी पहने हुए एक पुरुष बीच में है तथा उसके चारों ओर मण्डल में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए स्त्रियाँ हैं, सभी नृत्य में आसक्त हैं। वेष-भूषा से पुरुष शक जातीय ज्ञात होता है। हो सकता है शकों में इस नृत्य-विशेष की ओर अधिक रुचि रही हो।

यह कहना कठिन है कि वर्तमान रास नृत्य का पार्वती के 'लास्य' नृत्य से कोई सम्बन्ध है या नहीं, क्योंकि हमें अभी तक 'लास्य' के सम्यक् स्वरूप का पता नहीं चला है।

वर्तमान रास में नृत्य के साथ विविध लीलाओं के अनुरूप संवाद भी चलते रहते हैं। ये संवाद गद्य-पद्य मय होते हैं। पद्यों में सूरदास, नन्ददास, ललितकिशोरी आदि कवियों के पद विशेष रूप से गाये जाते हैं, जो विविध रागों में होते हैं। कभी-कभी कवित्त और सवैये भी गाये जाते हैं। रास के प्रारम्भ और अवसान में कतिपय संस्कृत के श्लोक भी सुने जाते हैं। उपर्युक्त गीतादि विभिन्न रास-मण्डलियों में सम्प्रदाय तथा रुचि के अनुसार अलग-अलग होते हैं। वेष-भूषा तथा अलङ्करण आदि में भी थोड़ी-बहुत भिन्नता दिखाई देती है। सभी मण्डलियों में स्त्री-पात्रों का अभिनय पुरुषों तथा बालकों द्वारा ही कराया जाता है जिससे साधारण तथा अन्य बातों के साथ वह वास्तविकता नहीं आ सकती जो स्त्री पात्रों के द्वारा लाई जा सकती है। तो भी रास के कथनोपकथन, वाद्यों के साथ उठी हुई सुन्दर स्वर-लहरी तथा सम्पूर्ण अङ्गों में गति तथा वेग पैदा करने वाले भावात्मक नृत्य—जो सभी आध्यात्मिक भावना से आन्दोलित रहते हैं—भारतीय सङ्गीत में रास का विशिष्ट स्थान सिद्ध करते हैं।

भ्रमरगीत—रास का एक मुख्य अंग भ्रमरगीत है, जिसमें विरहिणी गोपिकाओं द्वारा अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के पास अपना विरह-संदेश भेजना दिखाया जाता है। संस्कृत में 'मेघदूत' 'पवनदूत' आदि अनेक काव्यों की कल्पना की गई, पर भ्रमरगीत में निष्कपट प्रेम की जो गंभीरता, करुण रस की उत्कृष्टता तथा विप्रलंभ शृंगार की सजीवता देखने को मिलती है वह बेजोड़ है। इसका अभिनय देखने से पता चलता है कि किस प्रकार प्रेमिका गोपिकाओं ने विशुद्ध प्रेम से आप्लावित अपना हृदय खोल कर रख दिया है। भ्रमरगीत की कथा सूर, नंददास आदि कितने ही कवियों तथा कलाकारों की प्रिय वस्तु बन गई। श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी अपने 'प्रिय-प्रवास' में इस कथा का वर्णन खड़ी बोली में बड़े ही मनोहर ढंग से किया है, और उसमें यत्र-तत्र मौलिकता का भी समावेश कर दिया है।

रास का भविष्य—रास की अन्य कितनी ही सुन्दर लीलाएँ हैं जो आज के युग में भी दर्शकों को आनंद विभोर कर देती हैं। इस समय आवश्यकता है ब्रज के इस पुनीत तथा प्राचीन लोक-संगीत के संरक्षण तथा संवर्धन की। इस दिशा में रास के उद्भव तथा विकास के

सम्यक अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। साथ ही वर्तमान काल के अनुकूल इसमें आवश्यक संशोधन करने भी आवश्यक हैं। देखा जाता है कि वर्तमान रास में लौकिक तत्वों का अभाव है और धार्मिकता की मात्रा अधिक है। विभिन्न रास मंडलियाँ जो इस समय रास करती हैं उनकी विधियाँ भी अनेक प्रकार की हैं। इन विधियों का अध्ययन कर रास के प्रधान रूप का निश्चित करना आवश्यक है। प्राचीन वेष-भूषा की जानकारी भी वांछनीय है। धार्मिक मर्यादा को बनाये रखते हुए कला की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। आजकल सभी मंडलियों में गोपियों का अभिनय लड़कों द्वारा कराया जाता है। यह बात आधुनिक कलाविदों को विशेष रूप से खटकती है। जिस समय ब्रज में रास का प्रारंभ हुआ था उस समय हिंदू-समाज की दशा को देखते हुए यह आवश्यक समझा गया था कि लड़कियों को घर से बाहर निकल कर सार्वजनिक स्थानों में नृत्य गीत आदि में भाग लेना उचित नहीं। यहाँ के लोगों ने अन्य स्थानों में प्रचलित देवदासी प्रथा के भी कुफल देख लिए होंगे परन्तु अब समय बदल गया है। अब संगीत को विशुद्ध ललितकला के रूप में समझना चाहिए, जैसा कि प्राचीन भारत में था। देव-दासियों की प्रथा लगभग ७ वीं शताब्दी से प्रारंभ हुई थी और अब इतिहास से विदित होता है कि प्राचीन काल में स्त्री-पुरुष सभी संगीत में भाग लेते थे। मथुरा से ही प्राप्त सैकड़ों प्राचीन मूर्तियों तथा शिलाखंडों पर नृत्य, वाद्य तथा गायन संबंधी अनेक प्रकार के दृश्यों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जिनमें स्त्री-पुरुष साथ-साथ भाग लेते हुए देखे जाते हैं। प्राचीन साहित्यमें स्थान-स्थान पर संगीत संबंधी वर्णन मिलते हैं जिनमें स्त्रियों का बहुत बड़े रूप में भाग लेना पाया जाता है। भगवान् कृष्ण की लीला तो परम पावन है, उसमें दूषित शृङ्गार की कहीं गंध नहीं है। इस लीला से सम्बन्धित संगीत में भाग लेना बालिकाओं या स्त्रियों के लिए निषिद्ध न होना चाहिए। आशा है कि इस प्रकार समयानुकूल परिवर्तनों द्वारा रास में विशेष औचित्य, सौंदर्य तथा आकर्षण के दर्शन होने लगेंगे और साथ ही यह परंपरागत धार्मिक संगीत संपूर्ण भारतीय जनता का प्रिय विषय हो जायगा।

रास के अतिरिक्त गायन कला अपने स्वतंत्र रूपों में भी मिलती है, ब्रज के 'ध्रुपद' प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि 'ध्रुवा' नामक गीत से

ध्रुपद का आविष्कार हुआ है। जो हो, सोलहवीं श० से इन ध्रुपद गायन शैली का ब्रज में विशेष प्रचार मिलता है। ये तीन वीणा, पखावज, तंबूरा आदि के साथ गाये जाते हैं। यह गायन-पद्धति कव्वाली, ठुमरी आदि विदेशी गीत-शैलियों से पृथक है, और कहीं अधिक सरस तथा गंभीर है। अष्टछाप कवियों के समय ब्रज में संगीत की मधुर धारा प्रवाहित हुई। सूरदास, नंददास, कृष्णदास आदि स्वयं गायक थे तथा इन्होंने विविध गीतों का अपार भंडार अपनी रचनाओं में भर दिया। इनकेअतिरिक्त स्वामी हरिदास संगीत-शास्त्र के प्रकांड आचार्य तथा गायक थे, जिनके तानसेन जैसे संगीतज्ञ भी शिष्य थे। मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, तथा गोवर्धन बहुत काल तक संगीत के केन्द्र रहे जहाँ दूर-दूर से संगीतज्ञ और कलाप्रेमी आते रहे। सम्राट् अकबर तक श्री हरिदास स्वामी के मधुर गीतों के सुनने का लोभ संवरण न कर सके और वृन्दावन आये। आधुनिक संगीतज्ञ में भी गौरिया बाबा, चंदन चौबे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

रास के अतिरिक्त ब्रज में प्रचलित लोक-संगीत के कई दूसरे रूपों का विस्तृत उल्लेख श्री सत्येन्द्रजी ने ब्रजभारती (ज्येष्ठ १९९९) में किया है।

नृत्य—मथुरा की प्राचीन स्थापत्य तथा मूर्तिकला से नृत्य सम्बन्धी जो चित्र प्राप्त हुए हैं उनका संक्षिप्त वर्णन पीछे किया जा चुका है। ये नृत्य लोकरञ्जन की भावना से युक्त होते थे। इनमें धार्मिकता का प्राधान्य न था। हम देख चुके हैं कि धार्मिक कृत्यों में नृत्य का अपना स्थान था। प्रायः नृत्य के साथ-साथ गीत और वाद्य भी चलता रहता था। तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों से विदित होता है कि नृत्य का साधारण वर्ग तथा सम्भ्रान्त समाज दोनों में प्रचलन था। ये नृत्य भरतमुनि आदि प्राचीन नाट्य शास्त्रकारों द्वारा निर्मित नियमों के प्रायः अनुकूल ही होते थे।

रास के नृत्य—इन नृत्यों के सम्बन्ध में पीछे कहा जा चुका है कि ई० सोलहवीं श० के मध्य के आसपास इनका प्रारम्भ हुआ। इनके अनेक रूप हैं। कभी कृष्ण अकेले और कभी एक या अनेक सखियों के साथ नृत्य करते हैं। कभी केवल सखियाँ अकेली या

सम्मिलित रूप में नाचती हैं। नृत्यों के ढङ्ग विभिन्न लीलाओं के अनुरूप होते हैं। ये ब्रज के ठेठ नृत्य माने जाते हैं। कहा जाता है कि इन के मुख्य रूप वही हैं जो प्रसिद्ध नर्तक वल्लभ के द्वारा निर्धारित किये गये थे। तो भी समयानुसार इनमें कुछ न कुछ अन्तर आ जाना अपरिहार्य है।

चरकला नृत्य—श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी ने चरकला नामक एक बड़े मनोरञ्जक नृत्य का उल्लेख किया है। उनके वर्णन के अनुसार (ब्रज भा०, माघ, २०००, पृ० ८–९) ऊमरी, नगरी तथा रामपुर गाँवों में चैत्र कृ० २ से ५ तक रात में यह नृत्य होता है। एक स्त्री अपने सिर पर पीतल या लोहे का घड़ा रखती है, जिस पर एक चौखटा लगा रहता है। इस चौखटे में प्रत्येक कली पर एक जलता दीपक रक्खा रहता है। कुल ३६ दीपक होते हैं। घड़ा भरा होता है और वज़न लगभग २० सेर होता है। एक जाट स्त्री उसे सिर पर रखती है और दोनों हाथों पर एक-एक लोटे के ऊपर भी जलते दीपक रखती है। तब वह नृत्य करती है। नृत्य की यह खूबी रहती है कि सिर पर तथा हाथों पर रखे हुए दीपक बुझने नहीं पाते। नर्तकी का एक साथी हाथ में करताल लेकर उसके चारों ओर नाच-नाच के बाजा बजाता है और इस प्रकार उसे उत्साहित करता रहता है। यह नृत्य धार्मिक माना जाता है और प्रायः सभी स्त्रियाँ—बहुएँ, युवतियाँ—इसके लिये उत्सुक रहती हैं।

यह फूलडोल का नृत्य है। भगवान् कृष्ण के जीवन संबंधी गीत इस नृत्य के साथ प्रायः गाये जाते हैं। कभी-कभी श्रीराम के जीवन-गीत भी गाये जाते हैं।

श्री चतुर्वेदी जी का कथन है कि इस चरकला नृत्य का लगभग ५० वर्ष पहले ऊमरी गाँव में आविष्कार हुआ फिर रामपुरा के साँवलिया नामक बढ़ई ने इसको अधिक सुन्दर रूप दिया। अब यह तीनों गाँवों से आगे बढ़ रहा है।

मथुरा के संगीत के संबंध में कहा जा सकता है कि वह अधिकांश में धार्मिक रहा है। और उसके अनेक रूपों में लौकिक तत्त्वों का अभाव रहा है। हम उसमें वह अश्लीलता नहीं पाते जो लौकिक तत्त्वों की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाने वाले बाज़ारू संगीत में

मिलती है। इतिहास से पता चलता है कि ब्रज में रास का आरंभ होने के बहुत पहले भारत के मन्दिरों में और विशेष कर दक्षिण के मन्दिरों में देवदासियों के रखने की प्रथा थी। देवपूजा में आरती आदि के समय गान-नृत्य को अनिवार्य वस्तु मान लिया गया था। इसी कार्य के लिये गान-नृत्य में कुशल स्त्रियाँ मंदिरों में रक्खी जाने लगीं। धीरे-धीरे उनकी संख्या काफी बढ़ने लगी। और ये स्त्रियाँ अधिकांश में गणिकाएँ ही होती थीं। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनत्साँग ने मुलतान के सूर्य-मन्दिर में अनेक देवदासियों को देखा था। काश्मीर काठियावाड़ तथा राजपूताने के मन्दिरों में भी यह प्रथा थी। परन्तु दक्षिण के मन्दिरों में तो सैकड़ों देवदासियों के होने के प्रमाण मिलते हैं। देवदासियों का रखा जाना पहले धर्मपरक था, पर धीरे-धीरे वह मनोविनोद का साधन हो गया। इस प्रकार बड़ी संख्या में मन्दिरों में देवदासियों के होने से धार्मिक वातावरण का दूषित हो जाना स्वाभाविक था। फलस्वरूप मन्दिरों की धार्मिकता में कमी होने लगी और वे न केवल मनोरंजन के केन्द्र समझे जाने लगे अपितु वासना के अड्डे भी बन गये। दामोदर भट्ट ने अपने 'कुट्टिनीमतम्' में स्पष्ट वर्णन किया है कि किस प्रकार काशी का प्रसिद्ध विश्वनाथ मन्दिर जहाँ लोक-रंजन के लिये विविध भाँति के नाटक किये जाते थे, इस विषाक्त वातावरण से अछूता न रह सका।

ब्रज के प्राचीन मन्दिरों को हम दूषित प्रथा से मुक्त पाते हैं। यद्यपि अनेक रास-मंडलियाँ मन्दिरों से सम्बन्धित रही हैं और अब भी हैं तथापि उन्होंने कड़े नियमों द्वारा देवालयों का शुद्ध धार्मिक वातावरण स्थिर रखने में बड़ी सहायता की है। और इस प्रकार भगवान् कृष्ण के पूजा-स्थलों को दूषित होने से बचा लिया है।

मथुरा कला का संरक्षण—अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मथुराकला की वह आंशिक अमूल्यनिधि, जो आक्रमणकारियों के हाथों से पृथिवी, जल या विशेष संरक्षण में दबी हुई रहने के कारण बच पाई थी, प्रायः अज्ञात थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब मुख्यतः कतिपय पाश्चात्य कला-मर्मज्ञों के द्वारा इस कला का मूल्य आँका गया और प्रसुप्त भारतीयों की चेतना भी कुछ आन्दोलित हुई तो उसके संरक्षण का उपाय सोचा जाने लगा। १८६० ई० के

लगभग उस स्थान के पास जहाँ आजकल मथुरा की कलक्टरी कचहरी है, एक आकर्षक इमारत बनाई गई जिसमें मथुरा से प्राप्त प्राचीन मूर्तियों आदि के रखने की व्यवस्था की गई। पर यह कार्य अपर्याप्त तथा अव्यवस्थित रूप से ही रहा, क्योंकि अधिकारियों एवं जनता में इस ओर रुचि न थी। सन् १८७४ ई० में मथुरा के अध्यवसायी कलक्टर श्री एफ० एस० ग्राउस महोदय ने उस इमारत को एक संग्रहालय का रूप दिया और उसे तदनुकूल बनवाया। उन्होंने इस कार्य के लिए सरकार से सहायता दिलवाई तथा स्थानीय जनता से भी कुछ धन एकत्र किया। परन्तु अब भी लोगों में विशेष रुचि न थी। फलस्वरूप शिल्पकला की सैकड़ों महत्वपूर्ण कृतियाँ विदेश जाने लगीं, क्योंकि विदेशी लोग इस कला के सौंदर्य तथा वैशिष्ट्य पर मोहित हो गए थे। लन्दन, बर्लिन, पेरिस, व बोस्टन आदि के म्यूजियम मथुरा की सैकड़ों मूर्तियों से भर गये। इधर कुछ वस्तुएँ कलकत्ता म्यूजियम भी गईं। ई० १८८८ से १८९१ तक लखनऊ म्यूजियम के क्यूरेटर डा० फ्यूहरर ने प्रसिद्ध जैनस्तूप को, जो कंकाली टीले में था—खुदवाया और वहाँ से कई सहस्र मूर्तियाँ, वेदिकास्तंभ, तोरण-आयागपट्ट आदि प्राप्त किये जो सभी लखनऊ के संग्रहालय में भेज दिये गए। तो भी मथुरा संग्रहालय में पर्याप्त वस्तुएँ आ चुकी थीं और सन् १९०५ तक संग्रहालय में कला की लगभग ३ हजार वस्तुएँ इकट्ठी हो चुकी थीं। इसी वर्ष प्रान्तीय सरकार की प्रार्थना पर हालैंड के एक विद्वान डाक्टर फोगल ने जो उस समय भारतीय पुरातत्व विभाग में थे, संग्रहालय की वस्तुओं की एक सूची बनानी प्रारंभ की, जो १९१० ई० में प्रकाशित हुई। इस सूची के प्रकाशित होने से संसार के सम्मुख मथुराकला का गौरव विशेष रूप से प्रकट होगया।

१९०८ ई० में मथुरानिवासी पं० राधाकृष्णजी ने संग्रहालय के लिये अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। उनके उत्साह तथा विशेष परिश्रम का ही फल था कि कुछ ही वर्षों में सैकड़ों बहुमूल्य कला-कृतियाँ प्राप्त हो गईं। यद्यपि पंडितजी ने कुछ अच्छी वस्तुएँ विदेशों को भेज दीं तथापि मथुरा संग्रहालय के लिये उन्होंने जो सेवाएँ कीं वे सराहनीय हैं। उनका संबंध संग्रहालय के साथ सन् १९३१ ई० तक बना रहा। उनके परिश्रम तथा प्रयत्न के फलस्वरूप सन् १९२९ ई० में

संग्रहालय की वर्तमान नवीन इमारत डैम्पियर नगर में बनी जिसमें व्यवस्थित ढंग में सामग्री का प्रदर्शन किया गया।

भविष्य—मथुराकला का इस समय काफ़ी ख्याति संसार में हो चुकी है। बड़े-बड़े कलावेत्ता मुक्तकंठ से इस कला का बखान करते हैं। अब भी प्रति वर्ष ब्रज से काफ़ी संख्या में कलाकृतियाँ प्राप्त होती रहती हैं परन्तु उनको प्राप्त करने में बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ सामने आती हैं। अभी हमारा भाला-भाली जनता कला के महत्व को नहीं पहचानती। सैकड़ों वस्तुएं अब भी नष्ट हो रही हैं। अनेक महत्व-पूर्ण ऐतिहासिक तथा कलात्मक वस्तुएँ पूजन में पड़ी हैं। वह पूजन भी प्राय गलत ढंग का होता है। उदाहरणार्थ बुद्ध की मूर्ति शिव मानकर, जैन तीर्थंकर को प्रतिमादेवी मान कर तथा यक्ष प्रतिमा को कृष्ण की मूर्ति मान कर उनकी पूजा की जाती है। इसका प्रधान कारण जनता का अज्ञान तथा अंधविश्वास है। शिक्षण-शिविर के स्नातक बन कर आप लोगों का गाँवों में जा कर यह कर्तव्य होगा कि अंधविश्वासों में पड़ी हुई भोली जनता को वास्तविक बात समझावें। इस प्रकार बहुत सी कला-कृतियाँ—मूर्तियाँ, चित्र संगीत के प्राचीन वाद्य यंत्र पुस्तकें आदि नष्ट होने से बच जायँगी। हमारी संस्कृति का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो चुका है। अब जो कुछ सौभाग्य से बच सका है हमें उसकी रक्षा करनी चाहिए तथा उसके महत्व के प्रसार का प्रयत्न करना चाहिए।

आज ब्रज-प्रदेश अपनी कलाओं को भूल-सा गया है और परमुखापेक्षी बन गया है। आज जयपुर, बम्बई आदि स्थानों में निर्मित मूर्तियाँ, चित्र आदि यहाँ दिखलाई पड़ते हैं। यह खेद की बात है। हमें ब्रज की प्राचीन कलाओं का उद्धार करना है और जनपद के सुप्त कलात्मक जीवन को पुनः जाग्रत करना है। हमें प्रयत्न करना चाहिये कि हमारे कलाकार अपने पूर्वजों की परंपरा को जारी रखें और उनके गौरव को अमर बनावें। हमें अपनी प्राचीन कला का सम्यक् अध्ययन अन्वेषण कर एक बार फिर उसका सर्वतोमुखी प्रसार करके ब्रज-भूमि को गौरवान्वित करना चाहिए।

परिशिष्ट—

शिल्प सम्बन्धी ग्रन्थ—मथुरा की बढ़ी हुई शिल्प-कला के अनुरूप यहाँ शिल्प सम्बन्धी ग्रन्थों का भी अवश्य प्रणयन हुआ होगा। जैसा पीछे लिखा जा चुका है। मथुरा के शक-क्षत्रप तथा शासक स्थापत्य तथा मूर्तिकला के बड़े प्रेमी थे। मथुरा से मिली हुई अधिकांश सामग्री शक-कुषाण काल की ही है। क्षत्रप लोग विद्या प्रेमी थे और वे पुस्तकालयों की संरक्षा भी करते थे। इसका प्रमाण कुछ समय पूर्व उपलब्ध एक हस्तलिखित ग्रंथ में मिलता है।

सन् १९२४ में मथुरा-पुरातत्व-संग्रहालय के भूतपूर्व क्यूरेटर रायबहादुर पं० राधाकृष्ण जी को मथुरा से दो अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए थे। उनमें से एक संस्कृत का शिल्पशास्त्र का ग्रन्थ था, जो देवनागरो लिपि में लिखा हुआ था। इस विशाल ग्रन्थ में, जिसके रचयिता विश्वकर्मा लिखे हुए हैं बारह विभाग हैं जिनमें कुल मिलाकर एक लाख अटठानवे हज़ार श्लोक हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठों से पता चलता है, कि प्रस्तुत ग्रन्थ एक प्राचीन ग्रन्थ का अनुवाद है, जो प्राकृत में लिखा हुआ था और जो मथुरा के किसी क्षत्रप के पुस्तकालय में विद्यमान था। ग्रन्थ में क्षत्रप का नाम कट जाने से पढ़ा नहीं जा सका। वर्तमान ग्रन्थ भीमसेन नामक लेखक के द्वारा संस्कृत में अनुवादित हुआ था। यह पता लगाना कठिन है कि उक्त लेखक ने किस समय यह अनुवाद किया, परन्तु उसकी नक़ल करनेवाले ने लिखा है कि उसने शाहंशाह बाबर के राज्यकाल में अनुवादित ग्रन्थ की प्रस्तुत प्रतिलिपि की। अत: यह प्रतिलिपि सन् १५२६ से १५३० ई० के बीच किसी वर्ष हुई होगी। प्रतिलिपि करने वाले ने अपना नाम देवीचरन लिखा है। ग्रन्थ में मूर्ति तथा स्थापत्य कला का विशद विवेचन है, पर अभी तक इसका पूर्ण अध्ययन नहीं किया जा सका।

दूसरा ग्रन्थ भी शिल्प सम्बन्धी है। इसमें सड़क, पुल, नहर आदि के निर्माण का वर्णन है। इनके अनेक प्रकार के स्वरूपों का कथन ग्रन्थ में किया गया है। इसके मूल लेखक का नाम नील लिखा हुआ है। इसका संस्कृत अनुवाद अलवर के मन्त्री खानखाना की आज्ञा से किया गया। वर्तमान पुस्तक म पतालास हजार चार सौ

अस्सी श्लोक मिलते हैं। अनुवादक का नाम सुखदेव शर्मा लिखा है। उसने लिखा है कि वह मथुरा क्षेत्र में स्थित गोकर्णेश्वर घाट पर रहने वाले माथुर ब्राह्मण वसुदेव शर्मा का पुत्र था। इस पुस्तक में श्लोकों के साथ साथ उनकी संक्षिप्त व्याख्या भी दी हुई है।

खेद है कि ये दोनों महत्वपूर्ण पुस्तकें उक्त रायबहादुर साहब द्वारा १६२४ ई० में ही विलायत भेज दी गई थीं। प्राचीन शिल्पशास्त्र सम्बन्धी बहुत कम ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं और अब तक के मिले हुए इस विषय के ग्रन्थों में उपर्युक्त ग्रन्थ सब से अधिक विशाल हैं। अभी तक इन ग्रन्थों का सम्यक्रूपेण अध्ययन नहीं हुआ, अन्यथा हमें प्राचीन भारतीय शिल्प के संबंध में अनेक महत्वपूर्ण बातें विदित होतीं हैं। पहले ग्रन्थ में पाये हुए उल्लेख से सिद्ध होता है कि मथुरा के क्षत्रप, जिन्होंने यहां लगभग ढाई सौ वर्ष तक शासन किया था, विद्याव्यसनी थे तथा पुस्तकालयों का महत्व समझते थे।*

*शिल्प-शास्त्र पर अब तक मयमतम्, शिलारत्नम्, तंत्रसमुच्चय, कश्यप-शिल्पम् मानसार, मानसोल्लास आदि ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं और प्रकाशित हो चुके हैं।
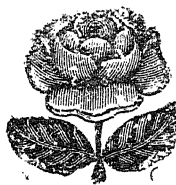
ब्रज का इतिहास

[श्री० मदनमोहन नागर एम० ए०, क्यूरेटर प्रॉविंशल म्यूज़ियम, लखनऊ]

१—राजनैतिक इतिहास

अ—पूर्वकाल—ब्रज-मंडल की राजधानी मथुरा उत्तरी-भारत के प्राचीन स्थानों में एक बड़े महत्व की जगह है। हिन्दुओं के प्रसिद्ध देवता जगत्पूज्य भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की जन्मभूमि होने के कारण यह नगरी लगभग ५००० वर्षों से भागवद्धर्म का एक प्रधान केन्द्र माना जाता है। यहाँ पर हिंदुओं की अत्यंत बढ़ी-चढ़ी दशा को देख कर बौद्धों और जैनों ने भी इसे अपने धर्म का केन्द्र बनाया। भगवान् बुद्ध के समय में मथुरा आर्य्यावर्त्त की सात महापुरियों में से एक गिनी जाती थी और सूरसेन प्रदेश की राजधानी थी। इस समय यहाँ 'अवन्तिपुत्र' नाम का राजा राज्य करता था, जो वत्सवंश के सम्राट् चंडप्रद्योत का दौहित्र था। अंगुत्तर-निकाय नाम के बौद्ध ग्रंथ से यह मालूम होता है कि अपने जीवन काल में एक बार भगवान् बुद्ध भी मथुरा पधारे थे। उस समय इस नगर का शासन इतना बिगड़ा हुआ था और राज्यवंश की शक्ति इतनी हीन थी कि तथागत के मन पर इस नगरी का संस्कार अच्छा नहीं पड़ा और वे फिर दूसरी बार यहाँ नहीं आये। अशोक के अवदानों से पता चलता है कि ई० पू० ३ री शती के लगभग यह नगर अशोक के विस्तृत राज्य के अंतर्गत था और कला-कौशल के नाते बड़ी उन्नत अवस्था में था। परखम (c.i. चित्र १) बड़ौदा, भरतपुर, झींग का नगला आदि स्थानों से प्राप्त यक्ष-मूर्तियाँ इसी काल की हैं जो मथुरा की उच्च-कोटि की स्थापत्य-कला का परिचय देती हैं।

किंतु, मथुरा का सच्चा तथा अनुसन्धान (Research) की

कसौटी पर कसा हुआ इतिहास हमें शुंगकाल यानी ई० पू० १८५ से मिलता है जब यह प्रदेश शुंग राजाओं की लंबे-चौड़े राज्य का पश्चिमी सूबा था। यद्यपि शुंग राजाओं से साक्षात् संबंध रखनेवाला कोई भी स्मारक हमें अभी तक यहाँ से नहीं मिला है फिर भी उस समय की कला के सैकड़ों नमूनों से, जो मथुरा और उसके आस-पास की खुदाई में अब तक मिले हैं, यह स्पष्टरूपेण प्रतीत होता है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी में यह स्थान धर्म और कला के लिए दीपक की भाँति जगमगाता था। इसी समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में हिंदी-यूनानियों (Indo-Greeks) का बोलबाला हुआ और युग पुराण की गार्गी संहिता तथा कलिंग के राजा खारवेल की हाथीगुंफा वाली प्रशस्ति से यह जाना जाता है कि ई० पू० १५० के लगभग मथुरा शुंग नरेश पुष्यमित्र के हाथ से निकलकर यवनराज दिमत्रिय (Demetrius) के अधीन होगया था। ई० पू० १४० के लगभग दिमित्रिय की मृत्यु के पश्चात् जब हिंदी-यूनानियों का राज्य अपने ही गृह-युद्ध के कारण शिथिल होकर कई टुकड़ों में विभक्त होगया तो शुंगों ने मथुरा को पुनः (यवनों से छीन कर अपने राज्य में) मिला लिया। पर यह हालत अधिक दिन न टिक सकी और ई० पू० १०० के लगभग यह नगर शुंगों के हाथ से फिर निकलकर पश्चिमोत्तर भारत के शक-क्षत्रपों के अधीन होगया। क्षत्रपवंश ने ई० पू० ५७ के लगभग तक मथुरा पर राज्य किया। हगान और हगामष इस वंश के सबसे पहिले सम्राट् थे, जिन्होंने साथ-साथ मथुरा पर राज्य किया। क्षत्रपवंश के सबसे प्रतापी नरेश महाक्षत्रप राजुल और उसका बेटा महाक्षत्रप शोडाष थे, जिन्होंने मथुरा में यमुना नदी के किनारे एक विशाल सिंह-स्तंभ बनवाकर अपने को अमर किया। अभाग्यवश इस स्तंभ का तो कुछ पता नहीं चला पर इसका शीर्षभाग (Capital) इस समय लंदन के सुप्रसिद्ध ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है। यह मथुरा के चकत्तेदार लालपत्थर का बना है और इस पर पीठ से पीठ सटाकर बैठे हुए दो शेर तराशे गये हैं। शिखर के सारे सतह पर उस ज़माने में पश्चिमोत्तर भारत की खरोष्ठी-लिपि और प्राकृत भाषा में एक लेख खुदा है, जिससे यह ज्ञात होता है कि यह सिंह-स्तंभ प्राचीन थेरवाद शाखा के सर्वास्तिवादी संप्रदाय के बौद्ध भिक्षुओं को भेंट चढ़ाया गया था, जिन्होंने मथुरा में रहने वाले महायान शाखा के अनुयायी महासंघिक

नाम के विरोधी दल के गुरुओं से शास्त्रार्थ करने के लिए प्राचीन नगर (आधुनिक जलालाबाद) नाम के नगर से एक कट्टर सर्वास्तिवादी पंडित को बुलाया था। इसके अतिरिक्त इसी लेख में महाक्षत्रप राजुल की रानी कंबोजिका के भी यहाँ पर एक विहार बनवाने का उल्लेख आया है जो गुहा-विहार के नाम से प्रसिद्ध था। खुदाई में जो संस्मारक अब तक मिले हैं उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मथुरा की राजनैतिक तथा सामाजिक दशा क्षत्रपों के समय में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और वह पूर्व और पश्चिम की संधि पर एक प्रधान केन्द्र बन गयी थी। ई० पू० ५७ के लगभग शुंगों के हाथ में फिर एक बार राजसत्ता आई और उन्होंने मथुरा में अपनी एक शाखा स्थापित की। गोमित्र और विष्णुमित्र इस शाखा के सबसे नामी राजा थे जिन्होंने ई० पू० २० शताब्दी तक राज्य किया।

किंतु मथुरा के इतिहास में सबसे गौरवपूर्ण समय कुषाण राजाओं का है, जिन्होंने ई० स० १ से ३०० तक यहाँ लगातार राज्य किया। इस काल में कला, साहित्य, शिल्प, व्यवसाय, वाणिज्य आदि सभी दिशाओं में सभ्यता की परम उन्नति हुई, जिसके कारण कुषाण-युग वास्तव में मथुरा के इतिहास में 'स्वर्णयुग' कहलाता है। इस स्वर्णयुग की बढ़ी-चढ़ी कारीगरी की छाप हमें पूरे तौर से ब्रज-मंडल से प्राप्त मूर्तियों आदि में दिखाई पड़ती है। इतना ही नहीं वरंच इस युग के लिए तो मथुरा सारे आर्य्यावर्त्त में एक प्रकार से स्थापत्य कला (lithic art) का सबसे प्रधान केन्द्र होगया था और अपने लाल चकत्तेदार पत्थर की बनी हुई मूर्तियाँ सुदूर कौशाम्बी, बनारस, श्रावस्ती, राजगृह आदि जगहों को भेजता था। इस युग की सबसे महत्वपूर्ण घटना भगवान् बुद्ध की मानुषीरूप में मूर्तियों का बनना था। (चित्र २ अ—ब) इसके अतिरिक्त जैनों के चौबीस तीर्थङ्करों को तथा हिंदुओं के अनेकों पौराणिक देवी-देवताओं को मानुषी रूप में मूर्तिमान करने का श्रेय भी इसी युग के शिल्पियों को था। इस समय के शिल्प के नमूने ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व रखते हैं। कारण, इनमें से बहुतों पर ऐसे लेख खुदे हुए हैं, जिनसे कुषाण राजाओं के नाम, उनके राज्यकाल की अवधि तथा उस समयके राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इन लेखों से हम कुषाण राजाओं का क्रमिक इतिहास (Chronology) इस

प्रकार संकलित कर सकते हैं:—महाराजा कुषाण अथवा कडफाइसिस प्रथम, जिसने कुषाण राज्य की नींव लगभग ई० सन् १ में डाली। उसका बेटा विमतक्षम या कडफाइसिस द्वितीय, जिसने लगभग ई० सन् ४० से ७७ तक राज्य किया (चित्र ३)। इसने आर्य्यावर्त्त के कुछ प्रदेशों को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था। यह कट्टर शैव था और अपने को बड़े गर्व के साथ 'माहेश्वर' कहता था। इसने सोने और ताँबे के अनगिनत सिक्के अपने राज्य में चलाये। इन सिक्कों पर एक ओर तो मोटा चोगा, सिलवार तथा गिलगिटी बूट पहने हुए राजा की और दूसरी ओर अपने वाहन बैल के सहारे खड़े हुए त्रिशूलधारी भगवान् शंकर की मूर्तियाँ अंकित हैं। विमकडफाइसिस के बाद कुषाण साम्राज्य की बागडोर कनिष्क के हाथ में आई। यह कुषाण-वंश का सबसे प्रतापी राजा था (चित्र ४)। इसने ई० सन् ७८ से १०१ तक राज्य किया, इसका राज्य पामीर के पठारों से लगाकर पूर्व में मगध तथा दक्षिण में विंध्याचल तक फैला हुआ था। मथुरा इसके पूर्वीय राज्य की राजधानी थी। इसके जमाने में सारे उत्तरी भारत में साहित्य, धर्म और कला का उत्कर्ष हुआ और मथुरा इस उन्नति का प्रधान केन्द्र था। महाराज कनिष्क स्वयं बड़ा विद्वान् था और विद्वानों का बहुत आदर करता था। बुद्ध-चरित्र और सौंदरानंद काव्यों का लेखक अश्वघोष और महायान पंथ का आदि प्रवर्त्तक आर्य वसुमित्र इसी की सभा के रत्न थे। विद्वानों का मत है कि महाराज कनिष्क के ही राज्यकाल में बुद्ध मूर्तियों का बनना सर्व प्रथम प्रारंभ हुआ। इसके अतिरिक्त इसके काल में अनेकों पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी बनीं जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय भगवान् कार्तिकेय की एक मूर्ति है, जो ई० स० ८६ अर्थात् शक संवत् ग्यारह में स्थापित की गई थी और कला तथा सौन्दर्य की दृष्टि से अद्भुत है। यह मूर्ति हाल ही में एक कुएँ से प्राप्त हुई है और इस समय मथुरा के संग्रहालय को सुशोभित कर रही है (चित्र ५)। कनिष्क के बाद कुषाण साम्राज्य का अधिकार हुविष्क को मिला। मथुरा से पाये गये लेखों से यह ज्ञात होता है कि हुविष्क ने ई० सन् १०७ से १३८ तक राज्य किया था। इसके राज्यकाल के एक लेख से पता चलता है कि मथुरा जिले के माँट नामक गाँव में इसके दादा के बनवाये हुए एक देवकुल की मरम्मत करायी गयी थी।

इस देवकुल में कुषाण राजाओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित थीं जिनमें से प्राप्त महाराज विमतक्षम और कनिष्क की मूर्तियाँ इस समय मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस वंश का अंतिम प्रतापी राजा वासुदेव था जिसने ई० सन् १४५ से १६८ तक राज्य किया। वासुदेव के लेख अब तक हमें केवल मथुरा से ही प्राप्त हुए हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि उसके जीवन काल में ही कुषाण साम्राज्य की नींव शिथिल होगई थी और उत्तरापथ का पश्चिमांश व अफगानिस्तान उसके हाथों से निकल गया था। इसी समय पूर्व में गुप्त राजाओं का तथा पश्चिम में सुराष्ट्र और मालवा के क्षत्रपों का बोलबाला हुआ पर मथुरा के 'देवपुत्रशाही शाहानुशाही' राजाओं की स्थानीय शाखा यहाँ पर लगभग ई० सन् की तीसरी शताब्दी तक राज्य करती रही, जब कि गुप्त साम्राज्य के साथ यह प्रदेश उसी में अंतर्हित होगया। गुप्त राज्य की नींव ई० सन् २५० के लगभग महाराज श्रीगुप्त ने डाली थी और इस वंश ने ई० सन् ५०० तक उत्तरी भारत पर अखंड राज्य किया। मथुरा से इस वंश के सबसे प्रतापी राजा चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के दो लेख मिले हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि ई० सन् ३८० में मथुरा गुप्त राज्य के अंतर्गत थी। गुप्त युग भारतवर्ष के इतिहास में कला, साहित्य, विज्ञान आदि के उत्कर्ष की दृष्टि से 'स्वर्णयुग' माना जाता है और इस काल में मथुरा ने भी कला-कौशल में खूब उन्नति की। इसका प्रमाण यहाँ से उस समय की पायी गयी बहुत-सी मूर्तियाँ हैं जो गुप्त कला के सर्वश्रेष्ठ नमूनों में गिनी जाती हैं। मथुरा के संग्रहालय में प्रदर्शित भिक्षु यशदिन्न द्वारा बनाई गई भगवान् बुद्ध की प्रतिमा (A 5)(चित्र ६) इसी युग के महान् कलाकारों की पवित्र कृति है, जिसमें शांति और आनन्द के भावों का अनुपम संमिश्रण किया गया है। लेकिन सभ्यता तथा शांति की यह दशा अधिक दिनों तक न रह सकी और पाँचवीं शताब्दी के अन्त में मध्य एशिया के रहने वाले जंगली हूणों ने अपने नायक तोरमाण और मिहिरकुल के सञ्चालन में उत्तरी भारत को खूँद डाला और बली गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। हूण लोग बौद्ध धर्म के कट्टर शत्रु थे इसलिए इन्होंने भारतवर्ष के समस्त बौद्ध स्थानों को लूटपाट कर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। मथुरा को भी इन आक्रमणकारी

हूणों की ध्वंसलीला का शिकार होना पड़ा और इस कारण यहाँ के कितने ही स्तूप, बिहार, संघाराम आदि बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो गये। पर सौभाग्यवश हूणों की राज्यसत्ता अधिक दिनों न चल सकी और ई० सन् ५३० में बालादित्य और यशोधर्मा नामक राजाओं के नेतृत्व में उस समय के नरेशों के संघ द्वारा मिहिरकुल बिल्कुल परास्त कर भारत से निकाल दिया गया। इसके बाद यद्यपि हर्षवर्धन, ललितादित्य यशोवर्मन, मिहिरभोज आदि अनेकों प्रतापी नरेशों के राज्य में मथुरा रहा पर इस समय की कला के जो नमूने हमें मिले हैं वे इतने कम और हीन हैं कि उनके आधार पर मथुरा का ठीक-ठीक इतिहास गढ़ना असंभव सा है और जब हम उत्तर मध्य युग (१०००–१२००A. D.) में पहुँचते हैं तो यह टिमटिमाता हुआ दीपक भी बुझ जाता है। हूणों के आक्रमण से मथुरा की सभ्यता को इतना प्रचंड धक्का लगा कि वह फिर यहाँ कभी नहीं पनप सकी। साथ ही साथ लोप हो गई यहाँ की वह सारी कला भी जो उत्तरी भारत में निरंतर ७०० वर्षों तक सूर्य के समान चमकती थी।

(आ) उत्तरकाल—इसके पश्चात् भारतीय इतिहास के साहित्य में मथुरा का जो उल्लेख हमें मिलता है वह महमूद गजनी के नवें आक्रमण से सम्बन्धित है। यह आक्रमण सन् १०१७ ई० में हुआ था, और इसका पूर्ण विवरण हमें अल-उत्वी की 'तारीख-इ-यमीनी' में मिलता है। कहा जाता है कि महमूद ने सर्वप्रथम बरन–आधुनिक बुलन्दशहर के किले को जीत कर, काफ़िरों के एक नेता कूलचन्द के किले को जीतने के लिए, पैर बढ़ाया। कूलचन्द एक शक्तिशाली नायक था। उसने महमूद से लड़ने के विचार से 'घने जङ्गल' में अपने सैन्य व हाथियों को संगठित किया परन्तु भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। अपने को पराज़ित हुआ जान कर उसने अपनी स्त्री को अपने ही हाथ से मृत्यु की गोद में सुला दिया, और स्वयं भी आत्महत्या कर ली। महमूद ने उसके शहर को खूब लूटा और मंदिरों को जिनमें कई लोहे के सिखचों से सुदृढ़ बनाये गए थे और जिनमें कितने ही बड़े-बड़े काष्ठ स्तम्भों से परिवृत थे, जलाकर भूमिशायी कर दिया। यद्यपि इस अवतरण में मथुरा या महावन का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि उपर्युक्त ग्रन्थ में कूलचन्द के किले को 'मंड' कहे जाने से तथा 'घने जङ्गल' शब्द के महावन के पर्यायवाची होने से यही

प्रतीत होता है कि इस वर्णन में मथुरा नगरी को ही इङ्गित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस नगर का नाम 'महारूतुलाहन्द' अर्थात जहाँ मन्दिर इत्यादि बड़ी संख्या में पाये जाते हों कहा गया है। जिसके आधार पर फ़रिश्ता इत्यादि यवन इतिहासकारों ने इसे मथुरा का ही रूपान्तर माना है।

इतिहासकारों के मतानुसार मथुरा इस समय ब्राह्मण धर्म विशेषत: आधुनिक कृष्ण-भक्ति का केन्द्र बन चुका था और इसी के फलस्वरूप महमूद को यहाँ के मन्दिरों में अतुल धनराशि मिली थी।

सन् १०१७ के पश्चात् से अकबर के समय तक इस नगरी का इतिहास अज्ञात सा है। यवन शासकों के आतंक के कारण मन्दिरों का समृद्धशाली होना प्राय: रुक-सा गया था क्योंकि उनकी गृद्ध-दृष्टि से लेने वाले और देने वाले दोनों बचना चाहते थे। सम्भवत: इसी-लिए जिस मथुरा नगरी में बौद्ध और जैन संस्कृति के अवशेष अब तक अगणित संख्या में पाये जाते हैं वहीं पर पौराणिक धर्म के मन्दिर आदि या उसके ध्वंसावशेष बहुत ही कम दृष्टिगोर होते हैं। तत्कालीन यवन इतिहास में इस नगरी के उल्लेख भी नाम-मात्र ही को हैं। सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१६) के शासन काल का वर्णन करते हुए 'तारीख-इ-दौदी' का लेखक कहता है कि बादशाह इतना कट्टर मुसलमान था कि उसने मथुरा के मान्दरों का पूर्ण विध्वंस कर उसमें की प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ कसाइयों को बांटों के काम में लाने लिए दे दीं। पर वह इतने से ही संतुष्ट न रहा, उसने सब बड़े-बड़े मन्दिरों को सरायों में परिवर्तित कर दिया और हिन्दुओं के सारे धार्मिक आचार बन्द करा दिए।

जिस समय बाबर ने इब्राहीम लोदी को पराजित किया उस समय (१५२६) महाबन में मरधूब गुलाम सम्भवत: शासक के पद पर था। ज़ुबदत-उल-तवारीख़ के लेखक शेख़ नूर-उल-हक़ ने शेरशाह द्वारा आगरे से दिल्ली तक एक मार्ग बनवाये जाने के सिलसिले में मथुरा के उन जङ्गलों का भी उल्लेख किया है जिनमें रहने वाले डाकुओं का आतंक फैला हुआ था। मथुरा के ये जङ्गल मध्यकाल में मुग़ल सम्राटों के आखेट के प्रमुख स्थान बने थे। अबुलफ़ज़ल हमें बतलाता है कि किस प्रकार अकबर ने उसके एक नौकर के ऊपर

झपटने वाले शेर को धाराशायी किया था। जहांगीरनामे से भी ज्ञात होता है कि इन्हीं वनों में किस प्रकार एक शेर हाथी पर बैठी हुई नूरजहा की गोली का शिकार हुआ था। शाहजहां ने भी नदी के उस पार महाबन में चार शेरों की बलि ली थी जिसका विवरण हमें शाहनामे में बड़े विशद शब्दों में मिलता है।

अकबर के उदार शासन काल में मथुरा पुनः उन्नति के सोपान पर चढ़ने लगा। इसी समय गोवर्धन और वृन्दावन के प्रमुख मन्दिरों का निर्माण हुआ। १५७० के लगभग वृन्दावन के सन्तों की कीर्ति इतनी अधिक फैली कि स्वयं मुगल-सम्राट् अकबर उनके दर्शन का लोभ संवरण न कर सका। उसकी आँखों पर पट्टी बाँध कर उसे वृन्दावन स्थित निधिवन के कुञ्जों में ले जाया गया और एक ऐसी चमत्कार झाँकी के दर्शन कराये गये कि हठात् उसे इस भूमि के पावित्र्य का लोहा मानना पड़ा। इसी समय कुछ सामन्त राजाओं ने वृन्दावन में मन्दिर निर्माण की बात चलाई और इस घटना के फल-स्वरूप श्री गोविन्ददेव, गोपीनाथ, जुगुलकिशोर और मदनमोहनजी के मन्दिरों का निर्माण हुआ। अकबर ही के शासन काल में अनेक शासन सम्बन्धी सुधार किये गये और हिन्दुओं को अनेक धार्मिक सुविधाएँ भी दी गईं।

जहाँगीर के राज्यकाल में मथुरा के इतिहास में कोई विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुए। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना ओरछाधिपति वीरसिंहदेवजी द्वारा ३३ लाख रुपया लगाकर यहाँ एक बड़े मन्दिर के निर्माण की थी। इससे ज्ञात होता है कि जहाँगीर ने भी अपने पिता के ही समान हिन्दुओं के प्रति उदार नीति का अवलम्बन किया था। मथुरा से सम्बन्धित दूसरा उल्लेख जहाँगीर ने स्वयं किया है कि किस प्रकार उसने इस नगर के समीप विद्रोही राजकुमार खुर्रम, जो आगे चलकर शाहजहाँ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, तथा उसके सेनापति सुन्दरराय और दरब को पराजित किया।

शाहजहाँ के राज्यकाल में भी मूर्तिध्वंस के अधिक उल्लेख नहीं मिलते। उसके समय के मथुरा के कुछ शासकों की नामावली हमें शाह-नामे में मिलती है, जिन्होंने कुछ सराएँ इत्यादि यहाँ बनवाईं परन्तु इससे मथुरा के इतिहास पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। शाहजहाँ

के राज्यकाल में यहाँ का अन्तिम शासक अलिवर्दीखान का पुत्र जाफ़र था।

मथुरा का इतिहास औरङ्गजेब के जीवन से दो प्रमुख घटनाओं के कारण सम्बन्धित है। प्रथम तो यह कि यहाँ उसके पुत्र महमूद सुलतान का जन्म हुआ था और दूसरे यहीं पर सन् १६५८ में उसने मुराद के साथ विश्वासघात कर उसे बन्दी बनाया और अन्त में उसके रक्त से रञ्जित हाथों से अपने राज्य की नींव डाली थी।

सन् १६६० में अब्द-उन-नबी यहाँ का शासक नियुक्त हुआ। उसकी बनवाई हुई मसजिद अब तक विद्यमान है। आधुनिक मथुरा की नींव इसी के द्वारा पड़ी। यह अब्द-उन-नबी वही है जिसे यवन इतिहासकारों ने प्रथम सामूगढ़ के युद्ध में दारा का पक्षपाती बतलाया है। किन्तु कहा जाता है कि औरङ्गजेब के पक्ष को स्वीकार करने के एक सप्ताह बाद ही वह इटावा का फौजदार नियुक्त हुआ। तत्पश्चात् वह सरहिन्द भेजा गया और अन्त में मथुरा का शासक नियुक्त किया गया। मासीर-इ-आलमगीरी के लेखक के कथनानुसार अब्द-उन-नबी सज्जन, धार्मिक व उत्तम शासनकर्त्ता था। इसकी मृत्यु एक स्थानीय विद्रोह के दमन करने में हुई और इसी घटना को महत्व देकर औरङ्गजेब ने मथुरा पर अपनी हिन्दुविद्वेषिणी तलवार उठाई, जिसके फलस्वरूप कितने ही अच्छे अच्छे मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। ओरछाधिपति के बनवाये हुए केशवदेवजी के तथा वृन्दावन के अन्य अच्छे अच्छे मन्दिरों के सुन्दर गगन चुंबी शिखर औरङ्गजेब को फूटी आँखों भी नहीं सुहाते थे। अतः उसने इन्हें धूलिधूसरित कर मासीर-इ-आलमगीरी के अनुसार मिथ्या देवताओं का नाश किया। इस ध्वंसानुष्ठान की पूर्णता मथुरा वृन्दावन के नामों को क्रमशः इस्लामाबाद और मोमीनाबाद में परिवर्तित करने पर हुई। किन्तु ये नये नाम बढ़ती हुई पौराणिक धर्म की शक्ति के आगे चिरस्थायी न हो सके।

औरङ्गजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल-साम्राज्य शिथिल होने लगा। उधर दक्षिण में मराठे अत्यधिक नोच-खसोट करने लगे थे। फर्रुखाबाद के बगंश नबाब सारे दोआब पर हाथ साफ किये बैठे थे। उत्तर में रोहिले भी धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाये जा रहे थे। इतना

ही नहीं वरन् दिल्ली व आगरे के समीपवर्ती सरदार अपने को स्वतंत्र घोषित करने की सोच रहे थे। इनमें जिस शक्ति ने मुगल-साम्राज्य को उसके केन्द्र में ही सबसे अधिक छिन्न-भिन्न किया वह जाटों की थी। चूरमान नामक एक जाट नायक ने इस शक्ति की नींव डाली थी। उसने अपने में इतनी क्षमता उत्पन्न करली कि वह मुगल-साम्राज्य से टक्कर ले सके। जिस समय औरङ्गजेब के उत्तराधिकारी सिंहासन के लिए आपस में युद्ध कर रहे थे, उस समय जाट अपनी शक्ति संचित करने में संलग्न थे। कुछ ही समय में इनकी शक्ति इतनी बढ़ी कि फर्रुख़सियर ने सिंहासन पर बैठते ही इन्हें अपनी ओर मिलाने के लिये चूरमान को बहादुरखान की पदवी से भूषित किया।

सन् १७२२ में ठाकुर बन्दनसिंह, जो चूरमान का भतीजा था, अम्बर के जयसिंह की सहायता से डीग में जाटों का राजा बना। उसने मथुरा ज़िले के सहिर नामक गाँव में एक भव्य प्रासाद बनवाया और वह बुढ़ापे में यहीं पर रहने लगा। उसके ज्येष्ठ पुत्र सूरजमल के समय में जाट-शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँची। १७२५ में मराठे दिल्ली जीतने की लालसा से ग्वालियर प्रदेश तक बढ़ आये। दिल्ली के बादशाह ने मुहम्मद बंगश को उनके साथ लड़ने को भेजा। बंगशख़ाँ कई वर्ष तक मरहठों की बाढ़ रोके रहा। किन्तु सन् १७३४ में हार कर उसे पीछे हटना पड़ा। उस समय मराठों की अनेक टुकड़ियाँ आगरे के प्रदेश में घुस आई और लूटपाट मचाने लगीं। सन् १७३७ में दिल्ली के बादशाह ने सादतखां सफ़दरजंग के सेनापतित्व में एक बहुत बड़ी सेना भेजी जिसकी मुठभेड़ मराठों से इतमादपुर नामक स्थान पर हुई। इधर मराठों ने एक ओर तो शाही सेना से मुक़ाबला किया तथा दूसरी ओर डीग के रास्ते से दिल्ली पर धावा बोल दिया। यद्यपि इस हमले में मुग़ल सेना को काफ़ी नुक़सान हुआ तथापि मराठों को इससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ और थोड़े ही दिनों बाद उन्हें वापिस लौटना पड़ा। मुग़लों और मराठों की इस मुठभेड़ में सूरजमल को अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। परन्तु कुछ ही दिनों में सारे भारत में आपसी झगड़ों तथा नादिरशाह दुर्रानी के भयावह आक्रमण के कारण जो अस्थिरता पैदा हो गई थी उसके दुष्परिणाम मथुरा को भी भोगने पड़े और यह प्रदेश कभी मराठों द्वारा और कभी यवनों द्वारा आक्रमित होता

रहा। सन् १७६१ में पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ। इसमें मनोभेद के कारण सूरजमल ने मराठों का साथ नहीं दिया, फलतः युद्ध में मराठों की अत्यधिक हानि हुई और सूरजमल सुरक्षित रहा। इसी बीच उसने आगरे के क़िले पर धावा बोल कर खूब लूटपाट की तथा कुछ दिनों के लिये उसे अपने अधिकार में कर लिया।

सूरजमल के मरने के पश्चात् ब्रज प्रदेश में बड़ी अस्थिरता उत्पन्न हो गई। १७७१ में मराठों ने भरतपुर को जा घेरा वहाँ पर काफ़ी धन प्राप्त कर लेने के बाद वे मथुरा की ओर बढ़े परन्तु बीच में जाटों ने उन्हें पुनः घेर लिया इससे कुपित होकर मराठों ने उन्हें समूल उच्छेदित करने का बेड़ा उठाया। किसी प्रकार सत्तर लाख रुपया देकर जाटों ने अपनी जान बचाई तथा यमुना के पूर्व की ओर का प्रदेश अपने अधिकार में रखा। इसके उपरान्त सन् १७७२ में नजबख़ां ने मथुरा के भूभाग पर आक्रमण किया। इस समय जाटों को यवनों से अनेक युद्ध करने पड़े जिसमें अधिकतर जाट-शक्ति का ह्रास होता रहा और अन्ततोगत्वा सन् १७७४ में जाटों का स्वातंत्र्य सूर्य कुछ काल के लिये अस्त हो गया। केवल करद राजा के नाते भरतपुर तथा उसके आसपास में नौ लाख की आय का भू-प्रदेश उनके हाथ में रहा।

१७७४–१७८२ तक मथुरा दिल्ली साम्राज्य का ही अंग बना रहा। परन्तु इसके पश्चात आन्तरिक समस्यायों के कारण दिल्ली के तत्कालीन वज़ीर अफ़रासियाबख़ाँ को मराठा सरदार माधोजी सिंधिया की सहायता लेनी पड़ी। माधोजी मराठों का शक्तिशाली नायक था। उसने अपनी सेना को यूरोपीय पद्धति से शिक्षित किया था। साम्राज्य-विस्तार का ऐसा सुन्दर अवसर भला कब चूकता ? उसने उसी समय दिल्ली के लिये प्रस्थान किया ; परन्तु भाग्यवशात् वज़ीर की इन्हीं दिनों हत्या हो गई थी, अतः माधोजी को अनायास ही दिल्ली का अधिकार मिल गया। वहाँ के तत्कालीन परावलम्बी बादशाह ने माधोजी को अपना सेनापति बनाया और उसे दिल्ली तथा आगरे के सूबे का शासन-प्रबन्ध भी सौंप दिया इसके बदले में माधोजी ने बादशाह को ६५००० रुपया मासिक देने का वचन दिया। इस प्रकार अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के पश्चात् सिंधिया ने धन-संग्रह करने का विचार किया। इस उद्देश की पूर्ति के लिए

उसने राजपूतों से कर लेना और मुसलमानों की जागीरों को छीनना आरम्भ किया। इसके फलस्वरूप बहुतेरे मुसलमान जागीरदार उसके विरुद्ध हो गए। और उन्होंने सैन्यवल से विरोध करना प्रारम्भ किया। शाहीसेना भी जिसने अब तक सिन्धिया का साथ दिया था, उसके विरुद्ध हो गई। अब तो सिन्धिया ने अपने को अकेले पाकर दिल्ली पर राज्य करने का विचार त्याग दिया और ग्वालियर लौटना ही उचित समझा। १७८७ में विद्रोही यवन-नायक गुलामक़ादिर और इस्मायिलबेग़ ने आगरे के किले को घेर लिया। इस किले का संरक्षण माधोजी का सेनापति लखबादादा जाटों की सहायता से कर रहा था, परन्तु उसके छक्के छूटते देख माधोजी को सहायता के लिए बढ़ना पड़ा। फ़तेहपुरसीकरी के युद्ध में मराठों और जाटों की सम्मि-लित सेना को यवन सेना से बुरी तरह परास्त होना पड़ा। इसके दो ही मास उपरान्त दक्षिण से राणाखान के नेतृत्व में सहायता आ गई और सिन्धिया ने पुनः आगरे के किले पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अब इस्मायिलबेग़ और गुलामक़ादिर दोनों दिल्ली भागे परन्तु मुगल बादशाह ने उनका मुँह देखना भी अस्वीकार कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर एक अङ्ग रक्षक की सहायता से उन्होंने वृद्ध बादशाह के नेत्रों की ज्योति छीनकर अपने को सदा के लिए कलंकित किया। इधर माधोजी ने शक्ति-संचय कर दिल्ली पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया।

मथुरा माधोजी का अत्यन्त प्रिय वास स्थान था। प्रारम्भ से ही गुसाईं हिम्मतबहादुर को उसने इसका प्रबन्ध सौंपा था। हिम्मतबहादुर के चातुर्य के कारण यवन विद्रोह के समय भी यह भू-प्रदेश पद-दलित होने बचा रहा। जब माधोजी मथुरा था उसी समय गुलामकादिर बन्दी बनाकर उसके सामने लाया गया और यहीं पर माधोजी की आज्ञा से उसकी गदहे पर उल्टे मुँह सवारी निकाली गई, अङ्गविच्छेद किया गया और उसी अवस्था में वह दिल्ली भेज दिया गया परन्तु मार्ग में मरता हुआ जानकर ले जाने वालों ने उसे एक वृक्ष पर लटका दिया।

इसके बाद सन् १८०३ तक मथुरा मराठों के अधिकार में रहा और उसके इतिहास में कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। अतः

जाटों ने यवनों के विरुद्ध सिंधिया का बराबर साथ दिया था और इसके लिए माधोजी ने मथुरा-आगरा के ११ परगने उन्हें दे दिए। इसके परिणाम स्वरूप जाट भी सन् १८०३ तक मराठों के मित्र बने रहे।

सन् १८०३ में पेशवा और अंग्रेजों में संधि हो गई। इसके फलस्वरूप सिंधिया और भोंसला दोनों को अंग्रेजों की शक्ति अत्यधिक बढ़ने का भय उत्पन्न हुआ और वे दोनों आपसी वैमनस्य को छोड़कर अँग्रेजों से लड़ने के लिए सन्नद्ध हो गये। ठीक यही बात अवध के नवाबों के साथ भी थी। मराठों की तरह उसे भी यह आशंका होने लगी कि अँग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति के कारण सम्भवतः उसे दिल्ली, आगरा, मथुरा आदि के प्रदेशों का आधिपत्य न मिल पाये। इस कारण से वह भी अँग्रेजों से टक्कर लेने की तैयारी करने लगा। इस पर सन् १८०३ में लार्ड लेक एक बड़ी सेना लेकर दोआब की ओर बढ़ने लगा। कानपुर और अलीगढ़ ले लेने के बाद वह दिल्ली की ओर बढ़ा और एक ही दिन में वहाँ अधिकार जमाकर तथा कर्नल डेव्हिड ऑक्टरलोनी को वहाँ का रेजीडेण्ट नियुक्त कर उसने आगरे की ओर पैर बढ़ाया। इसी समय सन् १८०५ में मथुरा सर्वप्रथम अँग्रेजों के हाथ लगा। कर्नल लेक ने सिंधिया को संधि करने पर बाध्य किया जिसके फलस्वरूप सिन्धिया को यह प्रदेश जिसकी आय कई लाख रुपयों की थी, अँग्रेजों को देना पड़ा।

इन दिनों होलकर शान्त पड़ा रहा। उसके हृदय में द्वन्द्व चल रहा था कि वह किसका साथ दे। यदि वह अंग्रेजों के विरुद्ध सिंधिया की सहायता देता तो उसे सिंधिया की शक्ति के अत्यधिक बढ़ जाने का भय था, और उसके विपरीत यदि अंग्रेजों की सहायता करता तो अंग्रेज शक्तिशाली बनते। अन्ततोगत्वा सिंधिया को अपने से अधिक शक्तिशाली बनने देना होलकर को अनुचित जान पड़ा और वह अकर्मण्य बना बैठा रहा। परिणाम यह हुआ कि आगे चल कर उसे भी एकाकी अंग्रेजों से दो हाथ करने पड़े। इधर-उधर कुछ लूट-पाट करने के बाद उसने लार्ड लेक से संधि करने की इच्छा प्रदर्शित की। परन्तु उसके प्रस्ताव कुछ अनुचित होने के कारण संधि की माँग ठुकरा दी गई और दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ कर दिया गया। युद्ध का पलड़ा कभी इस ओर झुकता तो कभी उस ओर। इस युद्ध

में मथुरा अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण एक महत्त्व का सैनिक केन्द्र बन गया था। प्रथमतः कर्नल ब्राऊन ने उस पर अधिकार जमाया। परन्तु कुछ ही दिनों में होलकर के दबाव के कारण उसे भागना पड़ा। परन्तु होलकर भी वहाँ अधिक दिनों न जम सका और लार्ड लेक के आक्रमण के फलस्वरूप उसे वहाँ से हटना पड़ा। उसके बाद होलकर ने दिल्ली को घेर लिया और लेक भी दिल्ली में घिरी सेना को सहायता देने चल पड़ा। इधर मराठी सेना ने जो इधर उधर छिप रही थी, डीग की ओर बढ़ना आरम्भ किया। इसी बीच कर्नल फ्रेसर एक बड़ी सेना लेकर गोवर्धन की ओर चल पड़ा। कुछ दिनों तक पड़ाव डालने के उपरान्त दोनों में भयङ्कर युद्ध हुआ। युद्ध में विजय अँग्रेजों के हाथ रही परन्तु उन्हें अपना सेनापति खोना पड़ा। उधर फर्रुखाबाद के युद्ध में भी लार्ड लेक द्वारा होलकर परास्त हुआ और उसे भागना पड़ा। इस पराजय के पश्चात् यद्यपि होलकर बहुत दिनों तक जीवित रहा तथापि उसकी धाक उत्तर भारत में कदापि न जम सकी। इस प्रकार सन् १८०५ से मथुरा अंग्रेजों के अधिकार में आया और इसके बाद वह एक बहुत महत्त्व का सैनिक केन्द्र बना। १८२४ से यह शासन का भी केन्द्र बनाया गया।

१८५७ में मथुरा भी भारत के स्वातन्त्र्य-युद्ध से प्रभावित हुआ और उसने उसमें भाग लिया। उन दिनों यहाँ के कलेक्टर का नाम मार्क थार्नहिल था। मथुरा में अंग्रेजों ने धन का अच्छा संग्रह किया था जिसे वे आगरे हटाना चाहते थे। परन्तु भारतीय सेना ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया। अन्य स्थलों की भाँति यहाँ भी अंग्रेजों को पहले तो बुरी तरह हराया गया। परन्तु शहर के धनिकों ने उनका पूरा साथ दिया। इसके फलस्वरूप सैनिक शिविर में तो खूब उथल पुथल हुई परन्तु नगर छावनी की अपेक्षा शान्त रहा। थार्नहिल पहले तो साथियों को लेकर आगरे भाग गया था किन्तु बाद में उन्हीं धनकुबेरों के आश्रय में लौट कर शहर की आन्तरिक व्यवस्था को देखने लगा। उसने शनैः शनैः दमननीति का अवलम्बन किया और उसी के बल पर 'विद्रोही' मथुरा में शान्ति स्थापित की गई। इसके अनन्तर उन धनिकों को जिन्होंने संकट के समय अंग्रेजों का साथ दिया था उपहार में अनेकों जागीरें दी गईं। इसके अनन्तर मथुरा का इतिहास उन्नति का ही प्रतीक है।

२—धार्मिक इतिहास

(अ) पूर्वकाल—व्रज से प्राप्त मूर्तियों, शिलालेखों, आदि से यहाँ का धार्मिक इतिहास भी संकलित किया जा सकता है। ईस्वी पूर्व की दूसरी शती से ई० सन् की छठी शताब्दी तक मथुरा उत्तरी भारत में बौद्ध, जैन तथा हिन्दू धर्म का एक प्रधान केन्द्र रहा और यहाँ के तक्षक भारतीय कला के विकास की प्रमुख धारा के तट पर खड़े होकर अपनी अनुपम कला का परिचय देते रहे। सबसे प्राचीन संस्मारक जो हमें इस स्थान से प्राप्त हुए हैं वे शुङ्ग काल के हैं। जिनसे हमें विदित होता है कि उस काल में व्रज में हिन्दू, बौद्ध और जैन तीनों ही मतावलम्बी अपने २ धर्म का बिना किसी आपसी भेदभाव अथवा वैमनस्य के पालन करते थे। इस युग में बौद्धों के बुद्ध तथा जैनों के तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ बनाना प्रारम्भ नहीं हुआ था। उनकी पूजा केवल चिह्नों यथा, पद्म, स्तूप, बोधिवृक्ष, चरणपादुका, आदि से होती थी। किन्तु भागवद्-धर्म के अनेकों देवी-देवताओं की यथा शिव-लिङ्ग, मुख लिङ्ग (चित्र ७) बलराम (चित्र ८), श्रीलक्ष्मी (चित्र ९) आदि की मूर्तियाँ बनन प्रारम्भ हो गई थीं। इसी समय पश्चिमोत्तर भारत (गान्धार) में यूनानी राजाओं का बोलबाला हुआ जिसके फलस्वरूप भारतीय कला में यूनानी देवताओं तथा यूनानी विषयों का भी चित्रण होने लगा। इस विदेशी कला का प्रभाव मथुरा की कला पर भी पड़ा जिसके फलस्वरूप हमें यहाँ से यूनानी विषयों यथा हरक्युलीस द्वारा सिंह का पछाड़ना (चित्र १०), मधुपान (चित्र ११–१२) आदि की मूर्तियाँ मिली हैं। ई० पूर्व की पहली शताब्दी में मथुरा पर शक-क्षत्रपों का राज्य था। उनके एक लेख से ज्ञात होता है कि मथुरा में इस समय सर्वास्तिवादिन् सम्प्रदाय की धाक थी। यह सम्प्रदाय प्राचीन थेरवादी सम्प्रदाय की एक शाखा थी। कहा जाता है कि जब पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम में थेरवादी और महासंघिक धार्मिक विषयों पर एक मत न हो सके तो थेरबादी बौद्धसंघ से अलग होगये और उन्होने पश्चिमोत्तर भारत में अपना एक नया केन्द्र स्थापित कर लिया। उपरोक्त लेख से हमें विदित होता है कि मथुरा में स्थित थेरवादी भिक्षुओं ने यहाँ के अपने प्रतिद्वन्द्वी महासंघिक आचार्यों को अपने सम्प्रदाय की बातें अवगत कराने के लिए एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थी को नगर

(आधुनिक जलालाबाद) से बुलाया था। इस प्रकार धार्मिक उद्देश्य के लिए दार्शनिकों का विभिन्न स्थानों में यातायात प्राचीन भारत की एक विशेषता थी। अन्य लेखों से हमें पता चलता है कि आगे चल कर मथुरा में महासंघियों का ही बोलबाला रहा। महासंघिक दल की सबसे बड़ी देन भगवान् बुद्ध की मानषी रूपमें मूर्ति थी। इस समय उत्तरी भारत में कुषाण सम्राटों का राज्य था जो लगभग तीन सौ वर्षों तक रहा। भारतीय कला तथा मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से यह समय बड़ा ही क्रियात्मक था और इसी युग में मथुरा के कलाकारों ने बौद्ध, जैन और हिन्दू तीनों प्रमुख धर्मों के देवी-देवताओं को मूर्तिमान किया। इस युग की कला के लिए सम्पूर्ण मध्य भारत मथुरा का ऋणी था। कारण यहां के शिल्पियों द्वारा निर्मित मूर्त्तियाँ श्रावस्ती, कुशीनगर, साँची, कौशाम्बी, तक्षशिला, राजगृह, आदि सुदूर प्रान्तों को भेजी जाती थीं और उन्हीं के आधार पर वहाँ के तक्षक प्रतिमाएँ गढ़ते थे। इस काल में मथुरा में हिन्दुओं के प्रायः सभी प्रमुख देवी-देवताओं के यथा त्रिदेव, विष्णु, ब्रह्म, शिव-पुरुष तथा लिङ्ग दोनों विग्रहों में, अग्नि (चित्र १३), कार्तिकेय, कामदेव, भगवान् कृष्ण (चित्र १४), सूर्य (चित्र १५) तथा उनके अनुचर, दुर्गा, महिषासुर मर्दिनी पार्वती, बौद्धों के बुद्ध तथा बोधिसत्वों के तथा जैनों के चौबीसो तीर्थंकरों (चित्र १६), मातृकाओं, आदि के स्वरूप निश्चत हो चुके थे। इसके बाद के ३०० वर्षों मे भी, जिसे भारतवर्ष के इतिहास में गुप्तकाल कहते हैं और जो भारतीय धर्म, संस्कृति, कला आदि की उन्नति के लिए 'स्वर्ण युग' माना जाता है, इन देवी-देवताओं की अनेकों मूर्त्तियाँ बनती रहीं और कुषाणकाल में दिये गये रूपों का उत्तरोत्तर विकास होता रहा। गुप्त युग की एक विशेषता महाविष्णु अथवा विश्वरूप विष्णु (चित्र १७) की मूर्त्तियाँ थीं। इनमें विष्णु के तीन मुख होते हैं जिनमें बीच वाला मुख तो साधारण तथा अगल-बगल वाले मुख बराह और नृसिंह के दिखाये गये हैं। मूर्तियों में पीछे प्रभामण्डल पर त्रिदेव, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नवग्रह, आदि चित्रित होते हैं। इसके पश्चात, हूणों तथा यवनों के हमलों के कारण मथुरा की राजनैतिक महत्ता फीकी पड़ गई और फलस्वरूप वह धार्मिक क्षेत्र में भी उतना उन्नत न रहा। आनन्द-कन्द भगवान कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण वह केवल एक प्रसिद्ध तीर्थ तथा यात्रा स्थान बना रहा।

(आ) उत्तरकाल—

किन्तु अवनति की यह दशा बहुत दिनों न रही और भारतवर्ष के मध्यकालीन धार्मिक इतिहास में मथुरा तथा वृन्दावन भक्तिप्रधान वैष्णवधर्म के लिए पुनः सर्वप्रमुख केन्द्र बने और आज भी उसी चोटी के स्थान पर आसीन हैं। वैष्णव-धर्म में प्रमुखतया निम्न चार संप्रदाय हैं:—श्रीवैष्णव (२) निम्बार्क (३) माध्व और (४) विष्णु स्वामी या वल्लभ संम्प्रदाय।

(१) श्रीवैष्णव संप्रदाय बहुत दिनों तक के लिये वृन्दाबन वासियों को अज्ञात सा ही था। इसका पदार्पण वहां पर श्री रंगजी के भव्य मन्दिर के निर्माण होने के साथ हुआ। यह सम्प्रदाय वैष्णवों में प्राचीनतम माना जाता है। इसकी नींव प्रसिद्ध संत रामानुजाचार्य (११-१२ शती) द्वारा डाली गई थी। इस संप्रदाय के अनुयाइयों के भालपट्ट पर सदैव बड़ा सा श्वेत और रक्त चंदन का त्रिपुण्ड्र लगा रहता है। परन्तु अन्य लोगों की भाँति ये लोग राधा को आराध्या नहीं मानते। 'ॐ रामाय नमः' उनका आदि मंत्र है। यह संप्रदाय तें कल्लई और वेद कल्लई नामक दो उपशाखाओं में विभक्त है :—इन दोनों के त्रिपुण्ड्र तथा सिद्धान्तों में किंचित भिन्नता है। श्री रंगजी के मंदिर को पूजा विधान तें कल्लई शाखा के सिद्धान्तों के अनुसार है।

(२) निम्बार्क वैष्णवों का प्रमुख मंदिर मथुरा के समीप ध्रुव नामक टीले पर है। इस संप्रदाय के संस्थापक निम्बार्काचार्य नाम से विख्यात हैं क्योंकि उन्होंने अपने तपःसामर्थ्य से अपने अतिथि के भोजन कर चुकने तक सूर्य को एक समीपवर्ती निंब-वृक्ष पर अवतरित होने को वाध्य किया था। निंबार्क संप्रदायियों का कोई भी लिखित ग्रंथ नहीं मिलता। यद्यपि वे अपने सैद्धान्तिक ग्रंथों की नामावली प्रस्तुत करते हैं तथापि न तो वे उनके लेखकों तथा उनके मन्तव्यों को जानते हैं और न वे अपने सिद्धान्तों का पूर्ण विवेचन ही कर सकते हैं।

(३) माध्व वैष्णव व्रज भर में इतस्ततः बिखरे हुए हैं। और इनका कोई उल्लेखनीय मंदिर या केन्द्र नहीं है। इस सम्प्रदाय के आदि-पुरुष मध्वाचार्य थे जिनका जन्म ११६६ में दक्षिण भारत में

हुआ था। कहते हैं कि इन्होंने नौ वर्ष की अवस्था में ही गीता पर भाषा टीका की थी। इस सम्प्रदाय के अनुयायी त्रिरेखात्मक त्रिपुण्ड्र लगाते हैं, जिसमें मध्यरेखा कृष्णवर्ण की होती है और पार्श्ववर्ती रेखायें श्वेत चन्दन की।

(४) विष्णु स्वामी सम्प्रदाय अब बल्लभ सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है और इसका प्राचीन नाम 'विष्णु स्वामी सम्प्रदाय' अब लुप्तप्राय हो गया है। कहा जाता है कि इसके सारे सिद्धान्त श्री गोकुल के गुसांईं बल्लभाचार्यजी द्वारा आमूल संशोधित किए गए थे। अतः इस सम्प्रदाय के अनुयायी अब बल्लभ संप्रदायी ही कहे जाते हैं। बल्लभाचार्यजी का जन्म सन् १४७९ में चंपारण्य ग्राम में हुआ था। शैशव के समाप्त होते-होते ही इन्होंने अपना अध्ययन पूर्ण कर लिया था। दक्षिण में प्रारम्भ से ही इनका प्रभाव खूब जमा। बल्लभाचार्य के हृदय में कृष्ण-भक्ति के कारण ब्रज-प्रेम का स्रोत प्रारम्भ से ही बह रहा था। सन् १५२० में इन्होंने गोबर्धन में श्री-नाथजी का मंदिर बनवाया। बालोपासना के मूल प्रवर्तक होने के कारण गोकुल पर इनकी विशेष प्रीति थी। इनका शिष्य संप्रदाय भी खूब बढ़ा और उन्होंने ब्रज क्षेत्र भर में कितनी बैठकें तथा मन्दिर बनवाये।

इन चार प्राचीन संप्रदायों के अतिरिक्त वृन्दावन तीन अर्वाचीन संप्रदायों का भी बड़ा भारी केन्द्र है। ये संप्रदाय वंगीय या गौड़ीय वैष्णव, राधावल्लभी तथा स्वामी हरिदास के अनुयाइयों के हैं। इन तीनों संप्रदायों में भी वंगीय वैष्णवों का सबसे अधिक प्रभुत्व वृन्दावन में है क्योंकि इस संप्रदाय के जन्मदाता चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूप और सनातन ने ही वृन्दावन को मध्यकालमें पुनरुज्जीवित किया था। चैतन्य का जन्म बंगाल के नाड़िया ग्राम में १४८५ में हुआ था। कहा जाता है कि इनका विवाह वल्लभाचार्य की कन्या से हुआ था। १४ वर्ष की अवस्था में इन्होंने लौकिक व्यवहारों से नाता तोड़ दिया और भगवदाराधना करने में तत्पर हुए। मथुरा से जगन्नाथ तक के तीर्थाटन में छः वर्ष व्यतीत करने के उपरान्त ये जगन्नाथ पुरी में ही स्थित हुए और लोगों में भगवत् कथा का प्रसार करने लगे। ४२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने देह

त्याग किया। इनके शिष्यों में अद्वैतानंद व नित्यानंद तो जगन्नाथ में ही रह गये परन्तु अन्य छः गोसाईंयों ने वृन्दावन को अपना वास स्थान बनाया। चैतन्य संप्रदाय का मूल-तत्व कृष्ण-नाम के संकीर्तन में ही निहित है। तुलसी की माला व नासिका से भालपट्ट के ऊपरी भाग तक लगा हुआ श्वेत चंदन का तिलक इस संप्रदाय के अनुयायियों के विशेष चिह्न हैं। चैतन्य संप्रदाय के वृन्दावन-वासी आचार्यों के अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। श्रीरूप, सनातन, श्रीजीव गुसाईं, आदि इस पंथ के प्रमुख आचार्य थे।

राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक का नाम 'हरिवंश' था। इनके पिता का नाम व्यास व माता का तारा था। हरिवंश जी ने अपने आयुष्य के आरंभकाल को वृन्दावन ही में बिताना उचित समझा। मार्ग में इन्हें एक ब्राह्मण मिला, जिसने अपनी दो कन्याओं तथा श्री राधावल्लभजी की एक प्रतिमा को भगवान् की आज्ञा के अनुसार उन्हें समर्पित करना चाहा। हरिवंशजी ने तीनों को स्वीकार किया और प्रतिमा को वृन्दावन में स्थापित किया और यहीं से राधाबल्लभी संप्रदाय का प्रारंभ हुआ। यही हरिवंश, श्री हितहरिवंश के नाम से भी विख्यात हैं। इनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य ओरछा के व्यासजी थे जिनके विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। प्रसिद्ध लेखक व कवि ध्रुवदास जी हरिवंशजी के प्रमुख शिष्यों में थे। इनके लगभग ६२ ग्रन्थों के नाम ज्ञात हैं।

तृतीय संप्रदाय के जन्मदाता स्वामी हरिदासजी थे इस संप्रदाय के महन्तों को विवाहादि करने की सुविधा है। वृन्दावन में बाँके विहारी का मन्दिर इनका प्रमुख केन्द्र है। सारे भारत में यही एक मन्दिर पूर्णतया इनके अधिकार में है। सजावट, शिल्पकला इत्यादि की दृष्टि से यह एक अपूर्व वस्तु है। स्वामी हरिदास का जन्म सं० १४४७ में हुआ था। बचपन से इनका ध्यान पूजा की ओर अधिक था। २५ वर्ष की अवस्था में विरक्त हो कर ये निधिवन में तपश्चर्या करने लगे और शनैः-शनैः उक्त संप्रदाय के प्रवर्तक बन गये। इनकी निस्पृहता, दृढ़भक्ति तथा अन्य गुणों के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। मुगलकालीन प्रसिद्ध गायक तानसेन इन्हीं का शिष्य था। विठ्ठलविपुल इनके पहले शिष्य थे। भक्तमाल के अनुसार इनकी मृत्यु संवत् १५३७

में हुई जो अशुद्ध है। क्योंकि उस समय तानसेन का आश्रयदाता सम्राट् अकबर जो हरिदासजी का गायन सुनने के लिए वृन्दाबन आया था सिंहासन पर आसीन भी नहीं हुआ था। यह माना जा सकता है कि हरिदास का समय ईसा की १६-१७वीं शताब्दी में था।

इन प्रमुख संप्रदायों के अतिरिक्त मलूकदासियों का तथा प्राणनाथियों का भी अड्डा ब्रजप्रदेश है यद्यपि ये पंथ अत्यन्त सीमित और साधारण कोटि के हैं।

ब्रज की लिपि और लेख

[श्री कृष्णाचार्य एम० ए०, साहित्य-रत्न]

ब्रज का नाम भारत में सुप्रसिद्ध है। प्रसिद्धि का मुख्य कारण श्रीकृष्ण हैं। इस तथ्य में सन्देह नहीं, किन्तु गम्भीर साहित्य और इतिहासज्ञ जानते हैं कि शूरसेन प्रदेश श्रीकृष्ण के समय से भी पूर्व प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। भारत के शासकों की पीढ़ियों में दो वंशों का नाम प्रसिद्ध है—मनु से सूर्यवंश और एल से चन्द्रवंश की गाथा ही भारत का प्राचीन इतिहास है। दूसरे वंश में चक्रवर्ती यदु हुए। उन्हीं का प्रतापशाली रक्त यादव वंश के नाम से बहुत बड़े काल तक स्थायी रहा। यह यदुवंश वैदिक था, वेद में शूरसेन प्रदेश का पता नहीं लगता, लेकिन इतना निश्चित है कि श्रीकृष्ण से भी कई शताब्दी पूर्व ये यदुवंशी ब्रज को अपनी मातृभूमि बना चुके थे।

इन यदुरक्त के सम्राटों ने ब्रज की बहुत सेवा और उन्नति की। यहाँ के जङ्गलों को काटा तथा नगर और ग्रामों का निर्माण किया। मानवधर्मशास्त्र में मध्यदेश के कई आदर्श जनपदों में शूरसेन का नाम है और बताया है कि यहाँ के आर्यों का चरित्र और सभ्यता अनुकरणीय है। ब्रज के वीर महाभारत युद्ध में अनुकरणीय पराक्रम दिखला गये थे। जिस समय भीष्म पाण्डवों से युद्ध कर रहे थे उस समय शूरसेन के योद्धाओं को प्रधान सेनापति भीष्म की अंगरक्षा का भार सौंपा गया था। द्रोणाचार्य तो इन पर इतना विश्वास रखते थे कि अपने नायकत्व में उन्होंने शूरसेनी वीरों को कुरुक्षेत्र की प्रथम पंक्ति में रखा था।

संस्कृति और क्षत्रियत्व के क्षेत्र से पृथक कला पक्ष पर भी अगर हम दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि मौर्य काल से भी एक पीढ़ी पहिले से लेकर शुंग और कुषाण युगों में होते हुए नाग राजाओं के तथा और भी आगे चल कर गुप्त सम्राटों की छत्र छाया में ब्रज ने जो कलात्मक अभिव्यक्ति की वह समस्त भारतीय राष्ट्र के अभिमान की वस्तु है!

भाषा और लिपि

ब्रज ने भाषा और साहित्य पर भी अपनी विशिष्टता की छाप लगाई है। शौरसेनी शैली और भाषा का आदर तो बड़े बड़े काव्य शास्त्रियों ने किया ही था किन्तु यह सर्व विदित है कि उत्तरी भारत की मागधी और शौरसेनी दो प्रधान भाषाओं में से दूसरी ने परम्परा को जीवन दान देने में बहुत काम किया। देवानांप्रिय अशोक के समय प्रचलित ब्राह्मीलिपि में लिखी जाने वाली बोलचाल की भाषा में कुछ समय उपरान्त प्रान्तीय भेद बढ़ने लगा। भाषा के साथ साथ लिपि में भी यह भेद दृष्टिगोचर हुआ। शूरसेन प्रदेश भाषा-गौरव के साथ साथ लिपि वैशिष्ट्य को भी न भूला। रणकुशलता, कलाप्रियता तथा आचार-विचारों की भव्यता के साथ साथ समस्त ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति के साधन लिपि द्वारा ब्रज ने अपना मस्तक किस प्रकार ऊँचा रखा यह बात बहुत कम लोगों को मालूम है। भारत की प्रधान राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी के विकास में ब्रज ने किस प्रकार गौरवमय भाग लिया, हम यहाँ कुछ विस्तार के साथ इस विषय की चर्चा करेंगे।

ब्राह्मी का संक्षिप्त इतिहास

भारतीय परंपरा में यह चर्चा बराबर मिलती रही है कि भारत की राष्ट्रीय लिपि का नाम ब्रह्मी था। लेकिन यह लिपि कैसी थी, किस तरह लिखी जाती थी तथा इसका प्रयोग भारत के किस किस स्थान में होता था इनमें से किसी एक प्रश्न का भी समाधान नहीं हो पाता था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में इस लिपि का पता लग गया। इस खोज का इतिहास अत्यन्त आकर्षक तथा हमारे लिये शिक्षा का विषय है।

बात यह थी कि इतिहासकारों को अशोक के शिला लेख तथा स्तंभ लेख बराबर मिलते जाते थे, लेकिन यह किसी को पता न था कि इन पर ब्राह्मी लिपि में पाली भाषा अंकित है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों जिज्ञासुओं को इनके रहस्य को जानने की अधिकाधिक उत्कण्ठा बढ़ी। प्रयत्न तो फीरोजशाह तुगलक के समय से ही प्रारंभ हुआ, लेकिन उस समय पुरातत्वशास्त्र का जन्म

भी नहीं हुआ था। फिर भला लिपि कैसे पढ़ी जाती? फिर भी, ई० सन् १३५६ में फीरोज ने मेरठ और तोपरा (फिरोजाबाद) से अशोक की दो लाटों को राजधानी लाने की आज्ञा दी। किन्तु शिविर साथियो! बयालीस फुट लंबी तथा दो सौ मन से भी अधिक भारी लाट को लाया कैसे जाय? भारी समस्या थी विशेषकर उस समय कठिनाई का अनुमान हम कर सकते हैं कि जब कि क्रेनों का नाम भी न था। रेल, मोटर का सहारा भी न था। लेकिन फिर भी चुनार के बलुई पत्थर के पच्चीसों खंभ जब भारत के प्रत्येक कोने में आज से सवा दो हजार वर्ष पहले पहुँचाये जा सकते थे तब फीरोजशाह मेरठ से दिल्ली तक की दूरी पर शाही शक्ति पर बट्टा नहीं लगने देना चाहता था। सौभाग्य से, इन खम्भों के लाने का विस्तृत वर्णन उस समय के प्रसिद्ध इतिहासकार शम्सेसिराज ने किया है। उसका मत था कि—

"यह दोनों स्तंभ पाँडवों के समय से खड़े हुए हैं। लेखक ने बहुत से अच्छे इतिहासकारों की पुस्तकें पढ़ी हैं और उनसे उसने जाना है कि ये दोनों खंभे भीमसेन की छड़ियाँ थीं। इनको लेकर वह टहलने जाया करता था। उस आदमी का डीलडौल विशाल था। काफिरों की पुस्तकों में लिखा है कि भीम नित्य एक सहस्र मनुष्यों को निगल जाया करता था।"

"जब खँभे को खोद कर नीचे रखने के अच्छे से अच्छे उपाय सोच लिये गये तब अड़ोस-पड़ौस के आदमियों, पैदल तथा घुड़सवारों तक को वहाँ आने की आज्ञा मिली। वह सब अपने अपने औजार लेकर धाए। जब सब आ गये तब धरती में रुई बिछादी गई। खंभे के नीचे स्थान चारों ओर से खोद कर रस्सियों के सहारे खँभे को धीरे-धीरे लिटा दिया गया। उसे खाल और पत्तियों से ढक दिया गया।"

"बयालीस पहियों की एक वृहत् गाड़ी बनी। हर पहिये में एक-एक रस्सी बँधी। इसके उपरान्त खंभों को मोटे-मोटे रस्सों के सहारे हजारों आदमियों ने उठा कर धीरे से गाड़ी पर रख दिया। प्रत्येक पहिये की रस्सी पर दो सौ श्रमिक लगे और खंभे को यमुना के किनारे लाए। सुल्तान इस अवसर पर खंभे को देखने आए। सैकड़ों नावें इकट्ठी हुईं। और फिर बड़ी बुद्धिमानी से उसे नाव पर रख दिया गया। इस तरह भीमसेनकी छड़ी को यथास्थान रख दिया गया।"

"उसे पुनः सीधा खड़ा कर गाड़ने की चिंता हुई। हजारों आदमियों ने मोटी-मोटी रस्सियों के सहारे आधा गज धरती से उठाया और फिर उसके नीचे लकड़ियाँ लगादी गईं इसी तरह धीरे-धीरे कई दिनों में सीधा कर स्थापित किया गया।"

"खंभे के नीचे के भाग में कुछ लिखा था। इसे पढ़ने के लिये बहुत से हिन्दू और ब्राह्मण बुलाये गये, पर उस पर अंकित लिपि को कोई न पढ़ सका। कहा जाता है कि कुछ काफिरों ने सुल्तान से कहा कि यह पाँडवों के समय से यहीं खड़ा है, बहुत से सम्राट् इसे अपने अपने यहाँ लेजाने की चेष्टा करेंगे, किंतु फीरोजशाह के अतिरिक्त और कोई इस कार्य में सफल न हो सकेगा।"

हाँ, तो मैं लिपि पढ़ने की बात कह रहा था। प्राचीन भारत के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने लिखा है कि ई० सन् की चौदहवीं शताब्दी के पहले ही अपने देश की प्राचीन लिपि ब्राह्मी तथा उससे निकली हुई ई० सन् की ६ वीं शताब्दी की लिपियों का पढ़ना लोग भूल गये थे, किन्तु पिछली अर्थात् ७ वीं शताब्दी से इधर की लिपियाँ संस्कृत और प्राकृत के विद्वान, जिनको प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों के पढ़ने का अभ्यास था, प्रयत्न करने से पढ़ सकते थे।

कहा जाता है अकबर ने भी इसे पढ़वाने का निष्फल प्रयत्न किया। सन् १६१५ में यूरप से टाम कारयट नामक यात्री आया। उसने भी इसे देखकर अपनी बुद्धि की परीक्षा की और कहा 'इस खंभे में यूनानी भाषा लिखी है।' उसके मत से यह लेख और स्तम्भ सिकंदर ने बनवाये थे। साथियो! आज हम भले ही इन विदेशी वक्ताओं के विचारों का उपहास करें, किन्तु यह बात विचारणीय है कि पुराने यूरोपीय सज्जन भी भारतवासियों को अक्ल से दूर समझते थे, और समझते थे कि उत्तमकोटि के कार्य तो हम ही कर सकते हैं।

विस्मृत लिपि की खोज

भारतीय इतिहास की प्राचीन सामग्री के अनुसंधान की दृष्टि से ई० सन् १७८४ का समय प्रत्येक इतिहास प्रेमी को याद रखना चाहिये। क्योंकि उसी वर्ष १५ जनवरी के दिन सर विलियम जोन्स ने एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना कराई। इस समय तक यूरप के

विद्वान् संस्कृत साहित्य से प्रभावित हो चुके थे तथा जर्मनी, फ्राँस और इँगलैण्ड के संस्कृत प्रेमी भारत का चक्कर लगाने लगे थे। यही समय था जब कि भूली हुई लिपि को पढ़ने का प्रयत्न वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रारम्भ हुआ।

अशोक के लेख पढ़ना आसान न था! सबसे प्रथम चार्ल्स विक्लिन्स ने बंगाल के राजा नारायणपाल के लेख पढ़े। इसके उपरान्त राधाकान्त शर्मा ने दिल्ली में चौहान राजाओं के तीन लेख पढ़े। कन्नौज में मौखरी वंश का राजा अनन्तवर्मन हर्ष से पहिले ही राज्य कर चुका था। उसके लेख जे० एच० हेरिङ्गटन ने अत्यन्त परिश्रम के बाद पढ़े। उपरोक्त अभिलेख नागरी से मिलते जुलते थे; अतः उनका पढ़ना कुछ कठिन न था। मुख्य कठिनाई गुप्त और मौर्य राजाओं के लेखों को पढ़ने में हुई। क्योंकि एक वंश आज से पन्द्रह शताब्दी पूर्व राज्य कर चुका था, दूसरा तेईस शताब्दी पूर्व! गुप्त सम्राटों की ब्राह्मी लिपि की खोज में चार्ल्स विल्किन्स ने हाथ लगा दिया था किन्तु इसकी पूरी वर्णमाला का पता कप्तान ट्रायर, डा० मिल और प्रो० प्रिंसेप ने ही कठोर परिश्रम के उपरान्त लगाया। इन तीनों में भी प्रिंसेप का नाम भारत की राष्ट्रीय लिपि के पुनरुद्धार की दृष्टि से अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है।

अशोक की लिपि की खोज

अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि की खोज का इतिहास और भी अधिक मनोरंजक है। विद्वान् इसकी वर्णमाला का पता लगाने में संलग्न थे कि सन् १८३६ में सी० एच० लेसन को अगाथोकिल्स नामक यूनानी राजा का सिक्का हाथ लगा। यह राजा भारत के सीमान्त प्रदेश में मीनान्डर के उपरान्त राज्य करता था। इस मुद्रा में एक ओर तो यूनानी अक्षरों में 'अगाथोक्लियस' लिखा था और दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि में कुछ लिखा था। बस, लेसन ने सोचा कि हो न हो दूसरी ओर भी यही नाम है। अतः इतने अक्षरों का पता लग ही गया—र ज अ ग थु क य स। जर्मनी के भाषा शास्त्री ब्यूहलर ने लिखा है कि महाशय प्रिंसेप ने प्रायः सब अक्षरों का पता लगा लिया था, उसने 'उ' और 'ओ' को पहिचानने में ही गलती की। श्री ग्रियर्सन महो-

ने गया में ई, ऊ, श, ष, ल, को पहिचाना। ऊ और श के दूसरे रूप का पता कनिंघम ने सिक्कों के आधार पर लगाया। सेनार्ट ने 'ष' के एक रूप का पता लगाया। हार्नेली ने दूसरे रूप का पता लगाया। व्यूहलर को ल का पता लगा। तो यह हुई ब्राह्मी के पुनरुद्धार की कहानी। यह भी एक कितनी ऐतिहासिक घटना है कि इसके पुनरुत्था-पन का श्रेय यूरोपीय सज्जनों को है।

ब्रज की प्रथम लिपि

अब हम ब्रज की लिपियों की बात करेंगे। अशोक की लिपियों से पहिले की गिने गिनाये तीन चार ब्राह्मी के नमूनों का ही पता लगा है। वे ये हैं—'ईराण' की मुद्राएँ, कनिंघम ने इन्हें पूर्व अशोक कालीन कहा है। पटना की राजमुद्राएँ भी अशोक से पहले की हैं। इनमें नदय=नंदाय और अगपलस=अंगपालस्य नामक प्रसिद्ध हैं। ये मुद्रायें ईसा से ४०० वर्ष पूर्व से लेकर ५०० पूर्व तक की हैं। अब देखना यह है कि क्या मथुरा इतनी पुरानी लिपियों की साक्षी नहीं देता ? यह गौरव की बात है कि मथुरा संग्रहालय में विशाल काय यक्ष की मूर्ति पर पूर्व मौर्य कालीन लेख है। व्यूहलर महाशय ने इसको पुरानी मौर्य लिपि माना है, लेकिन यह चौथी शती की लिपि हो सकती है। इस प्रकार मथुरा से काफी पुरानी लिपि की प्राप्ति का श्री गणेश होता है।

इसके अतिरिक्त शुंगकालीन लिपि भी मथुरा के अभिलेखों में सुरक्षित हैं। जैन लेखों में जो कङ्काली टीले से प्राप्त हुए हैं, और जिनका संपादन जर्मन विद्वान् व्यूहलर ने किया है इसी समय के हैं। इनकी संख्या बहुत है, यह संस्कृत मिश्रित पाली में हैं। ये भी जैन तीर्थंकरों की चरण चौकियों में निर्माणकर्त्ताओं की ओर से उत्कीर्ण कराये गये हैं। इन सब जैन लेखों की लिपियाँ एक ही समय की नहीं हैं। ई० पू० दूसरी शती से ईसा की दूसरी शताब्दी तक के लेख इसमें सुरक्षित हैं। इनमें वह लेख तो कुषाण कालीन ही हैं जिनमें हुविष्क आदि के नाम का उल्लेख हुआ है।

इसके उपरान्त क्षत्रपों का समय आता है। गुजरात, तक्षशिला मथुरा आदि में इनकी कई शाखाएँ राज्य कर रहीं थीं। मथुरा में महा-

क्षत्रप राजुल और उसके पुत्र सोडास की चरण चौकियों पर लेख मिले हैं। यह संयोग की बात है कि मथुरा के अधिकाँश लेख मूर्तियों पर हैं—चाहे वह मूर्ति देवता की हो, चाहे सम्राट की और चाहे, उप-शासक की। आगे चलकर हम देखेंगे कि कनिष्क की मूर्ति भी मथुरा जिले में लिपि से अंकित मिली है। क्षत्रपों की लिपि का समय ठीक-ठीक नहीं आंका जा सकता है। ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी बाद तक का अनुमान होता है। क्षत्रपों की लिपि कुषाण युग से पहले की है।

४—कुषाण लिपि

मथुरा कुषाण साम्राज्य के स्वर्ण युग का प्रतीक है। ब्रज में सम्राट कनिष्क से लेकर उसके वंशज हुविष्क और वाशिष्क या वासुदेव की मुद्राएँ तथा लेख प्राप्त हुए हैं। मथुरा कुषाणकालीन भारत की ब्राह्मी लिपि का प्रतिनिधित्व पूर्ण रूप से करता है। कुषाणकालीन पुरातत्व की सामग्री दो स्थानों पर ही प्राप्त है, लाहौर संग्रहालय में तथा मथुरा संग्रहालय में। लाहौर संग्रहालय सिक्कों की दृष्टि से ही धनी है लेकिन मथुरा का संग्रहालय कुषाण कालीन सभ्यता को संपूर्ण रूप से व्यक्त करता है। मूर्तिकला, मृण्मूर्त्ति, वेदिकाएँ, चामर ग्राहिणी तथा अन्य अलङ्करण चिह्नों के रूप में कुषाण सभ्यता के चिह्न आज भी जीवित हैं। इन कलाकृतियों पर प्राप्त लिपि का मथुरा के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। भारतीय लिपि शास्त्र के पण्डित ब्यूहलर ने कहा था कि कुषाण कालीन मथुरा की लिपि में ऐसी विशेषता है कि वह प्रथम दृष्टि से ही पहिचानी जासकती है कि यह कुषाण-कालीन लिपि है। इतिहास का विद्यार्थी उसको पहिचानने में त्रुटि नहीं कर सकता। कुषाण लिपि के अक्षर नाटे किन्तु दुहरे शरीर के हैं जो अपनी चौड़ाई से सबको आकर्षित करते हैं। साथियो! ऊपर हमने कहा था कि ब्रज में कनिष्क की मूर्ति मिलती है उस पर तत्कालीन लिपि में स्पष्ट रूप से 'महाराज कनिष्क' बड़े सुडौल अक्षरों में लिखा है। विशालकाय मूर्ति एक तरह की कुर्सी पर बैठी है, दुर्भाग्य से उसका मस्तक नहीं है। पैरों में ऊँचाई तक चढ़े हुए बन्द जूते, शरीर पर ओवरकोट जैसा ऊपर का वस्त्र, कमर में दाँई ओर लटकती हुई तलवार एक विदेशी शासक का स्मरण दिलाती है जो शक सभ्यता से प्रभावित था, जो शीत प्रधान

देश का निवासी था। घुटनों के नीचे लिखी भारतीय लिपि ही परोक्ष रूप से उसके बौद्ध धर्मावलंबी होने का आभास देती है। कुषाण-कालीन लिपि राजपूताना और साँची में प्राप्त हुई है।

यहाँ कुषाण राजाओं के समय का संकेत करना आवश्यक है। इतिहास में कालनिर्णय की दृष्टि से सबसे अधिक विवाद का विषय कनिष्क है। कनिष्क के सम्बन्ध में ६-७ स्थापनाएँ हैं। जिनमें कनिष्क को सबसे पीछे लेजाने वालों में वे लोग हैं जो उसे ५७ ई० पूर्व में मानते हैं, दूसरी ओर वह विद्वान हैं जो उसका समय १५० ई० बताते हैं, शेष स्थापनाएँ इनके बीच की हैं दोनों स्थापनाओं के बीच में दो सौ वर्ष का अन्तर ! कनिष्क का निर्णय न होने से कनिष्ककालीन लिपि के काल का निर्णय करना भी अत्यन्त कठिन है।

५—गुप्त राजाओं की लिपि

गुप्त सम्राटों की स्वर्ण मुद्राओं से स्पष्ट है कि कुषाण कालीन लिपि का विकास गुप्त सम्राटों के समय हुआ, और इस तरह हम कह सकते हैं कि कुषाण राजाओं के समय की लिपि अशोक और गुप्त-सम्राटों के मध्य के समय की द्योतक है। गुप्तमुद्राओं में कुषाणकालीन कोणीय 'य' तो चलता ही था।

ब्रज भाग्यवान् है कि वह गुप्तकालीन लिपि का प्रतिनिधित्व भी करता है। इनमें एक तो वह है जिसका सम्पादन व्यूलर ने जैन अभिलेखों के साथ किया है, यह भी जैन लेख ही है। किन्तु सब से प्रसिद्ध वह लेख है जो 'चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्तम्भ लेख' के नाम से प्रसिद्ध है। इस लेख में गुप्त संवत् ६१ अङ्कित है। यह ई० सन् ३८० में सम्पादित हुआ था।

भाषाशास्त्र-विदों ने गुप्त लिपि के दो भेद किये हैं—पूर्वी शैली और पश्चिमी शैली। भेद का आधार ल, ष, ह का भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखा जाना है। महाशय फ्लीट ने गुप्त सम्राटों के लेखों का प्रामाणिक सम्पादन प्रकाशित किया है। उसमें दोनों ही शैलियों के नमूने पर्याप्त संख्या में हैं। पूर्वीय शैली का प्रसिद्ध उदाहरण मन्त्री हरिषेण रचित समुद्रगुप्त की प्रयाग वाली स्तम्भ प्रशस्ति है। इतिहास और साहित्य की दृष्टि से तो इस लेख का महत्व अभूतपूर्व

है। आपको यह जानकर आश्चर्य, कौतूहल और आह्लाद होगा कि समुद्रगुप्त की यह प्रशस्ति देवानांप्रिय अशोक के स्तम्भ पर ही उत्कीर्ण है—इस ऐतिहासिक स्तम्भ में एक ओर अशोक का 'धम्मघोष' सुरक्षित है तो दूसरी ओर समुद्रगुप्त का 'भेरी घोष' मुद्रित है।

मथुरा वाला चन्द्रगुप्त का लेख पश्चिमी लिपि शैली का उदाहरण है। यह लेख मथुरा में चाण्डूल माण्डूल की बगीची से प्राप्त हुआ था। पश्चिमी लिपि-शैली के भी दो भेद हैं—कौंणीय और गोलाकार। चन्द्रगुप्त द्वितीय का लेख कोंणीय भेद का उदाहरण है। ब्रज में गोलाकार लिपि का उदाहरण नहीं मिलता, हाँ, पास ही में, दिल्ली में महाराजा चन्द्र का लौह-स्तम्भ इस भेद का सुन्दर उदाहरण है।

नागरी

ब्राह्मी लिपि की एक विशेषता यह भी थी कि अक्षर शब्दों के साथ सटाकर लिखे जाते थे, ठीक आज की तरह शिरोरेखा देने की चाल न थी। लेकिन सातवीं शती के अन्त से शिरोरेखा देने की प्रणाली ने जोर पकड़ा, और समय के साथ परिवर्तित ब्राह्मी शिरोरेखा के साथ नागरी कहलाने लगी। यों आठवीं और नवीं शताब्दी की नागरी से आज की नागरी का मिलान किया जाय तो बहुत अन्तर मालूम होगा। लेकिन हाँ दो-चार दिनों के ही अभ्यास से इस नागरी को पढ़ने में सुभीता हो सकता है तथा यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

(२)

एक बात और। नागरी का विस्तार दक्षिणी भारत और उत्तरी भारत में ही नहीं हुआ। दसवीं शताब्दी से गुजरात, राजपूताना, उत्तरी दक्षिणी भारत में ताड़-पत्रों पर लिखी लिपि एकदम नागरी है। इतना ही क्यों, उसी समय के नैपाल में प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों की लिपि नागरी है। नागरी के इस विस्तार का एकमात्र कारण यही था कि वह ब्राह्मी की एकमात्र स्वाभाविक उत्तराधिकारिणी लिपि थी। इस दृष्टि से राष्ट्र-लिपि के लिये अगर नागरी का नाम आगे रक्खा जाता है तो यह सर्वथा उचित है क्योंकि उसके औचित्य का रहस्य दृढ़ भूमि पर स्थित है।

सातवीं शती के प्रारम्भ से भारत में अन्तिम साम्राज्यवादी केन्द्रीय सत्ता स्थापित हुई। मेरा इङ्गित वर्धन साम्राज्य की ओर है। साहित्यकार सातवीं शताब्दी से हिन्दी का जन्म मानते हैं, उसी समय से नागरी का जन्म भी होने लगा था। ब्राह्मी का लोप होने लगा, लोक से वह लिपि विस्मृत होने लगी।

६—नागरी लिपि

अब हमें आज की लिपि की उत्पत्ति का समाचार भी जान लेना चाहिये, तभी तो हम आधुनिक भारत और उसमें जुटे हुए ब्रज की लिपि के रहस्य को जान सकेंगे। पीछे हम पश्चिमी कोंणीय ब्राह्मी (गुप्त शैली का एक भेद) की चर्चा कर आए हैं। इसी कोंणीय लिपि का विकसित रूप नागरी है। इस लिपि की प्रथम अवस्था ई० सन् ६३५ के लगभग अंशवर्मन तथा अयसाद लेख के आदित्यसेन वाली लिपि में पाते हैं। लेकिन नागरी का स्पष्ट आभास आठवीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक के समय के भीतर ही लगता है। नवीं शताब्दी का ग्वालियर का लेख और दसवीं शताब्दी का गोस्त्राव लेख उसी अवस्था के द्योतक हैं। ऊपर जितने भी उदाहरण नागरी लिपि के सम्बन्ध में हैं, वे केवल नागरी प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

व्यूहलर महोदय लिखते हैं कि नागरी का पूर्ण और प्रथम उदाहरण उत्तरी भारत में नहीं मिला है। प्रथम उदाहरण राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग का लेख है। यह ई० सन् ७५४ में लिखा दानपत्र है। इसके उपरान्त ई० स० ८५१ और ८७७ में लिखे कन्हेरी अभिलेखों का स्थान है, यह सिलाहार राजाओं की करनी थी। उत्तरी भारत में नागरी लिपि का प्रथम उदाहरण ई० सन् ७६४ का मिला है। यह है महोदय के महाराजा विनायकपाल का दानपत्र। व्यूहलर का अनुमान है कि कनारसी देश की नागरी के लेखक उत्तरी भारत के ब्राह्मण थे। अतः उत्तरी नागरी भी आठवीं शताब्दी में अवश्य प्रचलित रही होगी। लेकिन नवीं शताब्दी में हमको उत्तरी नागरी में बहुत कम लेख दिखलाई पड़ते हैं। ई० सन् ६५० के बाद तो नागरी लिपि की वह बाढ़ आई कि ११ वीं शताब्दी में उत्तरी भारत की लिपि होकर ही रही। मथुरा से इस समय का कोई लेख अभी प्राप्त नहीं हुआ है। आठवीं से दसवीं शताब्दी के बीच का।

अजयपाल का लेख : सं० १२०७

किन्तु इस समय के अभिलेख ब्रज के गर्भ में अवश्य ही छिपे पड़े होंगे। मेरे इस अनुमान की पुष्टि कनिंघम महोदय के इस कथन से होती है कि सातवीं शती में प्रसिद्ध मथुरा एक ब्रह्म साम्राज्य की राजनगरी थी, उस समय ह्वेन साँग ने इसका विस्तार ८३३ वर्ग मील लिखा है। कनिंघम लिखते हैं कि अगर चीनी यात्री के कथन को हम सत्य मान लें तो मथुरा का विस्तार दक्षिण में आगरा से भी और दूर इसकी सीमा नरवर और शिवपुरी तक माननी होगी और पूर्व में सिंध। इतने विस्तृत साम्राज्य के प्रतीक-प्रमाण अवश्य छिपे पड़े हैं।

मध्यकालीन नागरी में अजयपाल की प्रशस्ति उल्लेखनीय है। यह केशवदेव के टीले पर प्राप्त हुई थी। तीस पंक्तियों में यह शुद्ध संस्कृत का लेख है। कई दृष्टियों से यह लेख महत्वपूर्ण है। नागरी का उदाहरण तो है ही—दूसरी बात यह है कि यह सं० १२०७ (=1149-51 A.D.) में पाल और कुलधर कवि ने यह प्रशस्ति गाई थी तथा सोमल ने इसको पत्थर की लकीरों में जड़ दिया। यह अजयपाल इतिहासकारों के मत से बयाना-श्रीपठा के यदुवंशी क्षत्रिय थे, इस लेख में छोटी सी क्षत्रिय वंशावली सुरक्षित है। ब्रज के लेखों में यही लेख ऐसा है कि जिसमें राजा का नाम, संवत्, प्रशस्तिकार तथा शिल्पी का नाम भी स्पष्ट रूप से अंकित है।

उपसंहार

आपने देखा कि ब्रजभूमि ने इतने अभिलेख भारतीय इतिहास को समृद्ध करने के लिये दिये हैं। आपने यह भी देखा कि ये लेख भारतीय परंपरा की अधिकाँश कड़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, अर्थात् ब्रज से प्राचीन भारतीय लिपि का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। इस अवसर पर हमको यह बात नहीं भूल जानी चाहिये कि तक्षशिला, नालंदा, सारनाथ, अहिच्छत्र या मोहेंजोडेरों की भाँति ब्रज में पुरातत्वज्ञों ने वृहत् प्रयत्न नहीं किये हैं। अभी तक की सामग्री तो फुटकर प्रयास का ही शुभ परिणाम है। अनेक इतिहासकारों की तरह मेरा भी यह दृढ़ विश्वास है कि अगर ब्रजभूमि में बड़े पैमाने पर खुदाई का कार्य किया जाय तो अकेला ब्रज भारत की लिपि का पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने में तो समर्थ होगा ही;

साथ ही उन राजवंशों का पता भी लगेगा जिनका संकेत भर पुराणों में हुआ है या उन राजाओं का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत हो सकेगा जिनका नाम हमें मथुरा से प्राप्त कुछ सिक्कों पर मिला है।

आधुनिक अनुसंधानों से इस विश्वास की पुष्टि ही हुई है कि मथुरा प्राचीन काल में राजनीति और संस्कृति का केन्द्र रहा है। वैदिक-काल से चला आता हुआ यादववंश बहुत काल तक अपने शासन की केन्द्रीय भूमि मथुरा को बनाये रहा। मथुरा की भौगोलिक स्थिति ही ऐसी है। अपने पश्चिम के प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र मालवा तथा उसकी राजनगरी अवन्तिका से द्वितीय शासन केन्द्र मगध का मार्ग मथुरा होकर ही है। मथुरा दिल्ली से ही उत्तर में तक्षशिला जाने का रास्ता है। दक्षिण भेदन के लिये भी प्राचीन भारत में मथुरा होकर जाना ही ठीक पड़ता था। अतः जो सम्राट् मथुरा को पकड़ लेते थे वह आसपास की चारों ओर की परिस्थितियों से लाभ उठा सकते थे। लेकिन, आज का पुरातत्व भी मथुरा के इतिहास पर गंभीर और उद्‌घाटनकारी समाचार देने में समर्थ नहीं है। कुषाणवंश की उत्पत्ति, उनका शासनकाल, आदि सब कुछ सन्देहास्पद है। नाग-राजाओं के सम्बन्ध में भी पुराणों के सहारे भी हम कितना जान पाये हैं ? सिक्कों से प्राप्त राजाओं के नाम भी आज तक की स्थिति में मृतप्रायः हैं और यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कोई क्रांति-कारिणी खोज न हो। मथुरा का राजनीतिक वैभव आज भी अंधकारा-च्छादित है, मानों मथुरा में महान् केन्द्रीय सत्ताओं का अभाव ही रहा हो। मथुरा का सारा प्राचीन वैभव ब्रज की रज में सुप्त औरलुप्त है।

लिपि और भाषा की दृष्टि से भी, ठीक राजनीतिक दारिद्र्य की तरह, ब्रज में कुछ काम नहीं हुआ है। यह तो हम जानते ही हैं कि ब्रज ने शौरसेनी शैली को जन्म दिया, तथा उसीसे कदंबखंडियों, पुलिनों और करील वेष्टित कंकरीली डगरों में रहने वाले ब्रजवासियों द्वारा संस्कृत के समान मधुर और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा का जन्म हुआ है। जिस समय ब्रजभाषा का उत्थान हो रहा था उस समय अन्य प्रान्तों की भाषायें भी स्वस्थ अँगड़ाई ले रही थीं, लेकिन यह गौरव ब्रजभाषा को ही प्राप्त है कि वाणी का सिद्ध आह्वान उसी से संभव हुआ। यह साहित्य अपने आप में तो धनाढ्य और गतिशील

था ही, साथ ही उसने अपनी शक्ति से सौराष्ट्र से लेकर बंग देश तक तथा पञ्चनद् से लेकर नर्मदा के पार तक रस में निमज्जित होने वाले 'जनों' की आत्मा को गुदगुदाया। और आपको यह भी ज्ञात होगा उसी शौरसेनी अपभ्रंश प्रसूता ब्रजभाषा से कालान्तर में पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी का भेद खड़ा हुआ, और उसी पश्चिमी हिन्दी को आज हम खड़ीबोली, हिन्दी या राष्ट्रभाषा के नाम से स्मरण करते हैं। रासौ का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि खड़ीबोली के रूप उसमें मिलते हैं, और आगे चल कर ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ीबोली का विकास खुसरो की भाषा में देख पड़ता है। खड़ी-बोली और ब्रजभाषा के मूल में एक ही भाषा है और एक ही साहि-त्यिक परम्परा है। ब्रजभाषा तो शीघ्र ही प्रतिष्ठित पद पर पहुँच चुकी थी। लेकिन यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि खड़ीबोली को लोग गँवारू बोली, या भाषा कह कर दुतकार दिया करते थे। ऐसे आड़े समय में ब्रजभाषा खड़ीबोली का वर्धन और संस्करण करती रही। खड़ीबोली के लालन-पालन में ब्रजभाषा का प्रमुख हाथ है और इस तथ्य की सचाई को जानने के लिए हमें कबीर ले लेकर आज तक के संतों की वाणियों की छानबीन करनी होगी। वार्ताओं का अध्ययन करना होगा। यह देखना होगा कि दिल्ली के सदासुखलाल और इन्शाअल्ला खाँ और आगरा के पं० लल्लूलालजी ही हिन्दी के उत्थान में किस प्रकार सहायक हो सके थे। सदलमिश्र तो बिहार के थे, लेकिन वह भी ब्रजभाषा जानते थे तथा उनकी भाषा में ब्रज का क्षीण पुट है।

उपरोक्त दृष्टि से आज की हिन्दी का विचार होना ही चाहिए। इस सत्प्रयत्न से हमको भाषा और लिपि सम्बन्धी प्रकाश मिलेगा ही।

ब्रज से प्राप्त लेखों की संख्या सौ से अधिक है। इनमें तीन चौथाई लेख जैन संप्रदाय से संबन्धित हैं। बाकी के लेखों में आधे से अधिक बौद्ध संप्रदाय के हैं। अधिकाँश लेख मूर्तियों के नीचे चरण पादुकाओं में उत्कीर्ण हैं, जिनकी भाषा मिश्रित है। ये सब क्षत्रप कुषाणकालीन हैं। गुप्तकालीन लेखों की भाषा संस्कृत है। शेष में कुछ लेख स्तम्भों पर हैं लेकिन वह दो चार ही हैं। जैसे राजुबुल और सोडास के लेख, माथुरों का यूप लेख तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्तम्भ-लेख। राजवंश से सम्बन्धित होने के कारण ये सब अत्यन्त महत्व के

हैं। क्योंकि अधिकाँश लेख धार्मिक संप्रदायों के हैं, अतः उनसे सांस्कृतिक आखें सी मिलती हैं, लेकिन राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश नहीं पड़ता। उनसे मथुरा के राजनीतिक इतिहास पर अब तक कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है।

मुद्रा सम्बन्धी टिप्पणी

मथुरा से प्राप्त सिक्कों पर भी ब्राह्मी लिपि है। ये सिक्के चार वर्गों में रखे जा सकते हैं। भारतीय राजाओं के सिक्के—इनका समय मौर्यकाल से लेकर शुंग युग तक है। पुराणों से इन राजाओं का पता नहीं लग पाया है। इनमें से अधिकाँश की लिपि शुंगकालीन है।

दूसरे वर्ग में क्षत्रप, राजुबुल और सोडास के सिक्के हैं। इनको कुषाण पूर्व माना जाता है। इनके अभिलेख भी मिले हैं। अतः यह निश्चित है कि इन्होंने मथुरा में राज्य किया तथा ये विदेशी थे।

तीसरे वर्ग में कनिष्क, हुविष्क और वासिष्क या वासुदेव के सिक्के हैं। इनकी लिपि कुषाण कालीन है। सिक्कों की लिपि पर तो अलग से ही विचार किया जा सकता है, यों मोटे रूप से इनका काल विभाजन तो हो ही चुका है।

मैं आप लोगों का अधिक समय नहीं लेना चाहता, लेकिन इतना जानना आवश्यक है कि भारतीय इतिहास और साहित्य में मथुरा का स्थान है और उस स्थान की तुलना तक्षशिला काशी, सारनाथ, नालन्द, अहिच्छत्र और मोहेन्जोदरो से नहीं की जा सकती। कारण स्पष्ट है। तक्षशिला और काशी विद्या के केन्द्र थे, सारनाथ और नालन्द बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। अहिच्छत्र की सामग्री अभी पूर्ण रूप से हमारे सम्मुख नहीं है। हाँ मोहेन्जोदरो की सभ्यता अपने में पूर्ण थी। मथुरा का महत्व समन्वय में है—वह आर्य संस्कृति के तीनों प्रधान शाखाओं—वैदिक, जैन और बौद्ध का दिग्दर्शन है। भविष्य की ओर हमारी टकटकी लगी है, और जिज्ञासु इतिहासकार शूरसेन प्रदेश के गौरव के दर्शनों की इच्छा को मानस में जागृत रखते हुए तब तक मौनव्रत धारण कर अनुशीलन करते रहेंगे जब तक कि उसका नया अध्याय प्रारम्भ न हो जाय।

राष्ट्रीय सभ्यता के इतिहास का प्रमुख साधन

प्राचीन ग्रन्थ-संशोधन !

[ले०—श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव, नायब सूबा मुरैना, ग्वालियर]

प्रत्येक राष्ट्र के प्रमुख अंग मानव समाज की उत्क्रांति अर्थात् विकास पर विचार किया जावे तो हमें मानना पड़ेगा कि जहाँ मानव की आदिम अवस्था में विकारों का विभिन्न रूपों में प्रकटीकरण करते हुए विभिन्न विचार प्रदर्शन के विभिन्न साधन जुटाये गये, वहीं सभ्यता के इतिहास की नींव पड़ी। वन्यावस्था में सभ्य-समाज के योग्य साधन जुटाना भी सम्भव नहीं था, अतएव उनकी धीरे-धीरे प्रगति होती गई—लगभग २५–३० वर्ष पूर्व मुम्बई विश्वविद्यालय की उच्च कक्षा की व्याख्यान माला में एक विचार छिड़ पड़ा था कि पहिले प्राकृत का उद्भव हुआ या संस्कृत का ? और तत्कालीन कुछ प्रमुख विद्वानों ने एक स्वर से यही निर्णय किया था कि संस्कृत का अर्थ सुधरी हुई भाषा है, अतएव प्रारम्भिक भाषा का रूप प्राकृत ही होना चाहिये, किन्तु इधर भाषा शास्त्री उसके ठीक विरुद्ध निर्णय दे रहे हैं कि संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी और अनन्तर हिन्दी-मराठी-बंगाली, और गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ। यही बात मानव सभ्यता के विकास क्रम के लिये भी लागू होती है। विचार प्रदर्शन के लिये लिपि का उद्गम बहुत देर से हुआ। इसी कारण इतिहास के प्रस्तरयुग, लोह-युग, ताम्रयुग आदि के नामकरण किये गये। आरम्भ में मूर्ति रूप में शिल्प, फिर गृह-भवन की वास्तु, आदान-प्रदान के लिये विभिन्न-चिन्हों के सिक्के, घटनायें अंकित करने के लिये लिपियुक्त शिलालेख और शास्त्र-कला-नीति आदि को स्थायी रूप देने के लिये भोजपत्र, शाल-पत्र, ताड़पत्र और सबसे अन्त में कागज का अन्वेषण होकर उस पर ग्रन्थ अंकित किये जाने लगे। सर ऑरेल स्टीन ने मध्य एशिया और खोतान प्रदेश के रेती में धँसे हुए शहरों के तहखानों में ताड़पत्रों के अनेक

ग्रन्थ ढूँढ़ निकाले हैं। किंवदती है कि सातवीं शताब्दी में चीन देश में कागज का प्रचार हो चुका था, किन्तु इतिहास संशोधकों का यह मत है कि भारत में ग्यारहवीं शताब्दी के अनन्तर ही कागज का प्रचार हुआ, जिसका श्रेय मुसलमान आक्रमणों को ही दिया जा सकता है। तभी से कागज पर ग्रन्थ, परवाने, सनदें, महजर, करीने आदि लिखे जाने लगे। सूदूर दक्षिण प्रान्त, काँगड़ा और काश्मीर में तथा नवद्वीप आदि विद्या के केन्द्रों में ताड़पत्र पर ग्रन्थ अंकित करने की प्रथा भी प्रचलित रही, किन्तु सर्वसुलभ साधन कागज के द्वारा ही ज्ञानप्रचारक मार्ग निश्चित किया गया।

मानव सभ्यता के विविध साधनों को ही इतिहास माना जाता है और नृतत्व के सिद्धान्तों से लगाकर लिखित साधनों का भी उसमें अन्तर्भाव किया जाता है। इसी से भगवान वेदव्यासजी ने महाभारत के प्रणयन के समय इतिहास का महत्व बतलाते हुए, स्पष्ट रूप से कहा है कि—

इतिहास प्रदीपेन मोहा वारण घातिना।
लोकगर्भं ग्रहं कृतस्वं यथावत् संप्रकाशितम् ॥

उक्त ध्येय को सामने रखकर ही आज हम देख रहे हैं कि विद्वत् जगत में कहीं भूगर्भ संशोधन की चर्चा है, तो कहीं रसायन की। कोई मानव आचार-विचार की जाँच-पड़ताल में लगा हुआ है, तो कोई श्रुतिगम्य लोककथा, लोकगीत एकत्र कर रहा है, कोई लिखित साधन सिक्के, शिलालेख, ताम्रशासन, ग्रन्थ आदि की शोध और चर्चा में व्यस्त है। यों तो मानव ज्ञान की अनेक शाखा-प्रशाखायें मानी गई हैं किन्तु उनमें से प्रमुख निम्न हैं—

(१) राजनैतिक इतिहास—अर्थात् प्रस्तर, लोह, ताम्रयुग से लगाकर वर्तमान काल तक की विभिन्न घटनाओं का इतिहास।

(२) सैनिक तथा नाविक इतिहास—इसमें विभिन्न काल के युद्ध-साधन तथा वृहत्तर भारत में उपनिवेशित जातियों के नाविक साधन भी अन्तरभूत हैं।

(३) आर्थिक इतिहास—इसमें व्यापार, खेती, कला, मजदूरी, भाव आदि का सन्निवेश होगा।

(४) साहित्यिक इतिहास—विभिन्न प्रान्तों के परस्पर आदान-प्रदान के साधन।

(५) धार्मिक इतिहास—आचार-व्यवहार और प्रायश्चित्त जिसमें कुलाधार, देशाचार, ग्रामाचार, आदि भी सम्मिलित हैं।

(६) विभिन्न पन्थ और सम्प्रदायों का इतिहास—सनातन धर्म, नाथपन्थ, जैनधर्म, वैष्णव, वाममार्ग आदि।

(७) सामाजिक इतिहास -समाज का रीति-व्यवहार।

(८) शास्त्रों का इतिहास—इसमें वेद, मन्त्र, तन्त्र, न्याय, तर्क, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, मीमांसा, आयुर्वेद, रसविद्या आदि का अन्तर्भाव होता है।

(९) कलाओं का इतिहास—इसमें चित्रकला, मूर्तिकला, सिक्के, शस्त्र, कपड़े, स्थापत्य आदि समाविष्ट हैं।

कई पश्चिमीय जिज्ञासुओं के आरम्भिक प्रयत्नों तथा हमारे देशनिवासी विद्वानों ने यद्यपि हमारी सभ्यता की उक्त ज्ञान-शाखाओं में संशोधन करने का प्रयत्न किया है किन्तु कुछ शाखाओं को छोड़कर अभी तक वह कार्य सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। विभिन्न कार्यकर्त्ताओं के लिये उक्त कार्य-क्षेत्र कितना व्यापक है यह बताने के लिये ही हमने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की ऊपर चर्चा की है।

अब हम अपने लिये सौंपे हुए निश्चित विषय लिखित ग्रन्थों की शोध सम्बन्धी चर्चा करें। इतिहास के साधनों में सर्वश्रेष्ठ साधन लिखित ग्रन्थ ही कहे जा सकते हैं। सन् १८६८ ई० में भारत सरकार ने विभिन्न प्रान्तों में हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की खोज की नींव डाली, जिसके परिणामस्वरूप बंगाल की एशियाटिक सोसायटी, बम्बई, मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर, बड़ौदा ग्वालियर आदि की सरकारों, डाक्टर कीलहार्न, बूलर, पीटरसन, बर्नेल, भांडारकर, राधाकृष्ण आदि के प्रयत्नों से ग्रन्थ संशोधन का जो अपूर्व कार्य हुआ है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। आरम्भ में संस्कृत ग्रन्थों का ही संशोधन आरम्भ हुआ था, किन्तु अनन्तर मराठी, बंगाली, गुजराती, फारसी, उर्दू, कनाड़ी आदि भाषाओं के संशोधन का भी कार्य आरम्भ हुआ और कहा जा सकता है कि उसके

हमारे देश के प्राचीन ग्रन्थ तथा यूरोप, चीन, तिब्बत, लंका के लेखकों और मुसलमानों द्वारा लिखित ग्रंथों ने हमारे देश के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। यदि इन सब प्रयत्नों का परिचय कराया जावे तो एक बहुत बड़ा पोथा बन जावेगा। केवल यहाँ पर दो उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा कि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर हमारे इतिहास में क्या परिवर्तन हुआ। महान पराक्रमी सम्राट् समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त का कोई नाम नहीं जानता था, किन्तु देवी चन्द्रगुप्त नाटक के कुछ अवतरण के आधार पर गुप्त साम्राज्य के इतिहास के एक नये परिच्छेद का पता चल गया। पृथ्वीराज रासो, परमानन्द कवि का शिवभारत, कम्पराय चरित्र, मूषक वंश काव्य आदि प्राचीन ग्रन्थों के उपलब्ध हो जाने से ही हमें कई ऐतिहासिक तत्वों की जानकारी हुई है। हिन्दी में भी सौभाग्य से प्राचीन ग्रन्थों के शोध का कार्य काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने आरम्भ किया और उस दिशा में कुछ व्यक्तिगत प्रयत्न भी हुए, जिससे आज हम हिन्दी साहित्य की रूप रेखा जानने में समर्थ हुए हैं, किन्तु ग्रन्थ संशोधन कार्य के लिए जिस मुख्य संदर्भ साधन की आवश्यकता है, उस ओर अभी तक हिन्दी की किसी संस्था या संशोधक का ध्यान नहीं गया। गत ८० वर्षों में भारतवर्ष में तथा विदेशों के ग्रन्थ संग्रहालयों में जो संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हुए या विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तियों की ओर से जो सूचियाँ और टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं उनके आधार पर डाक्टर ऑलफ्रेट ने दो बृहत् खण्डों में 'केटैलॉगस केटैलागोरम्' नामक संदर्भ सूची का निर्माण किया, जिसमें अब तक के ज्ञात अज्ञात तथा प्रकाशित अप्रकाशित संस्कृत कवि लेखकों के संक्षिप्त परिचय के साथ उनकी कृतियों का भी उल्लेख किया है, जिसकी सहायता से कोई भी संशोधक निर्विवाद रूप से बता सकता है, कि उसको प्राप्त कवि या उसकी रचना अज्ञात या अप्रकाशित है, या नयी ?

उक्त ग्रन्थ का मूल्य १२०) रुपये है, और वह पुराना पड़ जाने, अप्राप्य तथा नूतन संशोधन का उसमें समावेश न होने के कारण मद्रास विश्वविद्यालय के द्वारा उक्त ग्रन्थ का एक अधयावत (uptodate) संस्करण प्रकाशित करने को आयोजना की गई है। मराठी

भाषा में भी आरंभ में प्रसिद्ध साहित्य इतिहास कार श्रीमावेजी ने मराठी के प्रकाशित अप्रकाशित कवि और उनके ग्रन्थों की एक संक्षिप्त सूची प्रकाशित की थी; किन्तु अनन्तर उसका परिवर्धित संस्करण 'संत कवि काव्य सूची' प्रकाशित हुआ जिसमें कवि का जन्म, समय, उसका विशेष, संक्षिप्त परिचय, माता पिता ग्राम आदि तथा उसकी रचनाओं की समग्र सूची देदी गई है। जिससे खोज में कोई नया ग्रंथ मिलने पर कोई भी यह बता सकता है कि वह अब तक ज्ञात था, या अज्ञात। गुजराती में भी उक्त प्रकार की एक सूची का संकलन किया गया है, और वास्तव में जब तक ऐसे संदर्भ ग्रंथ उपलब्ध न हों तो संशोधन का कार्य क्यों व कैसे हो सकेगा? नाई की पेटी में जब-तक नेहन्नी, उस्तरे को धार लगाने के लिये प्रस्तर आदि न हो तो उसका कार्य कदापि संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि नागरी-प्रचारिणी सभा के एक संशोधक महाशय गोरखपुर या लाहौर पहुँचे, और सौभाग्य से उन्हें किसी ब्राह्मण के घर या मंदिर में कुछ हस्तालिखित हिन्दी ग्रन्थ प्राप्त होगये। उनमें महाकवि सुन्दरजी लिखित बारहमासा नामक एक काव्य खंड मिल गया, किन्तु सुन्दरजी की रचनाओं का एक ही स्थान पर उल्लेख कहीं नहीं मिलता। साहित्य के इतिहासों में या संकलित ग्रंथों में जो माहिती है, वह भी अधूरी भ्रमपूर्ण। यदि सुन्दरजी के जीवन की प्रमुख घटनायें, उनका जन्म मातापिता, निवास स्थान, दिल्ली का राजाश्रयकाल, प्रकाशित अप्रकाशित ग्रंथों की संख्या, सुन्दर नामधारी विभिन्न कवियों का एक ही स्थान पर उल्लेख आदि अंकित, हो तो उस संशोधक को नूतन प्राप्त ग्रन्थ किस कवि का हो सकता है, यह बात बेखटके बताने में कोई असुविधा न होगी और न उसे काशी पहुँच कर निरीक्षक महोदय का परामर्श, पुरानी खोज की रिपोर्ट, शिवसिंह सरोज, मिश्रबन्धु विनोद आदि के टटोलने की आवश्यकता ही पड़ेगी। अभी तो हिन्दी के छापेखाने प्रचलित हुए तबसे लगा कर आज तक के प्रकाशित ग्रन्थों की प्रामाणिक सूची भी प्रकाशित नहीं हुई है; फिर हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की 'कैटेलॉगस कैटेला-गोरम' प्रकाशित होना तो दूर की बात है। महाराष्ट्रज्ञान-संशोधक स्वर्गीय डाक्टर श्रीधर केतकरजी ने अपने वृहत्ग्रन्थ ज्ञानकोष (विश्व-

कोष) की रचना के पूर्व सन् १८०५ से १६१५ ई० तक की प्रकाशित मराठी पुस्तकें तथा मराठी मासिक और साप्ताहिक पत्रों में प्रकाशित महत्वपूर्ण लेखों की एक वृहत् सूची केवल इस उद्देश्य से प्रकाशित की थी कि मराठी भाषा में अब तक किन विद्वानों ने किस विषय पर क्या और कहाँ लिखा था, जिसके आधार पर उस विषय का विवेचन करते समय उन पूर्व विचारों का समीकरण या सङ्कलन किया जा सके। उक्त सूची का मूल्य २५) था, जो अब अप्राप्य है। गत वर्ष प्रसिद्ध मुद्रण शास्त्रज्ञ श्रीदातेजी ने उक्त सूची का एक अद्ययावत संस्करण प्रकाशित किया है, जिसका मूल्य ७५) रु० हैं, और उसके संदर्भ से इस बात का शीघ्र ही परिज्ञान हो सकता है कि अब तक कितना और किस प्रकार का साहित्य मराठी में प्रकाशित हो चुका है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने यहाँ संग्रहीत आर्यभाषा पुस्ककालय की एक अधूरी सूची प्रकाशित की है, जिसमें केवल ५-६ सहस्र ग्रन्थों का अधूरा परिचय दिया है। इसी प्रकार सभा की ओर से सम्वत् १६५७ से लगाकर सं० १६६८ तक हस्तलिखित ग्रन्थ शोध सम्बन्धी जो विवरण अँग्रेजी में प्रकाशित हुये उनके आधार पर हस्तलिखित पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है किन्तु वह अत्यन्त निकम्मा संदर्भ-ग्रंथ कहा जा सकता है। डाक्टर आलफ्रेट तथा तदविषयक अन्य भाषा के सन्दर्भ साधन ग्रंथ उपलब्ध होते हुए बाबू श्यामसुन्दरदासजी की पैनी दृष्टि में संदर्भ ग्रंथों की रचना और उसका महत्व कैसे ओझल हो गया, समझ में नहीं आता है। अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सबसे पहिले ग्रन्थ शोधकों की सुविधा के लिये आठवीं शताब्दी की सिद्ध कवियों की रचनाओं से लगाकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के समय तक की हिन्दी कवि काव्य सूची प्रकाशित की जाना परम आवश्यक है। अब हम ग्रन्थशोध कार्य के लिये जिन प्रमुख बातों की आवश्यकता है, उनका परिचय करायेंगे साथ ही इतिहास-काव्य आदि संशोधन में किस प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं, इसका भी उल्लेख करेंगे। महाराष्ट्र के ख्यातनामा—साहित्य संशोधक धूलिया (धुल) निवासी श्रीयुत शंकररावदेव ने सूत्र रूप में संशोधक में निम्न गुणों का होना आवश्यक बताया है—

स्वदेशेतिहास ज्ञान- शास्त्र ज्ञान।

संस्कृत-फारसी भाषा, लिपि ज्ञान ॥
कार्यनिष्ठा, कविकाव्यज्ञान ।
कष्ट, प्रेम मृदुजिह्वा, कल्पकता ॥

और वास्तव में बिना उक्त गुणों के कोई भी संशोधन का कार्य कदापि नहीं कर सकता, यथा—

(१) **स्वदेशेतिहासज्ञान**—हिन्दी में वीर काव्य की रचना का समय क्यों अद्‌भुत हुआ इसका कारण भारतीय इतिहास के सूक्ष्म अवलोकन से ही जाना जासकता है। विदेशी यवनों के आक्रमणों के कारण भारतीय सभ्यता छार छार हो रही थी। उस समय समाज में नवजीवन फूँकने के लिये वीर रचना का प्रचार करना ही आवश्यक था। मुसलमानों के राज्य की जड़ जमने पर उनके धर्म का विविध रूपेण प्रचार होने लगा, तब हमारे यहाँ के कर्मण्य सन्तों ने शान्त रस की रचना के द्वारा समाज में कर्तव्य की जागृति की। शाही आश्रय-प्रश्रय में आमोद-प्रमोद में व्यस्त राजा बाबू के लिये रीति काव्य शृङ्गारादि की रचना की। गई और विभिन्न आश्रयदाताओं की अभिरुचि के अनुसार उनके आश्रित कवियों ने विभिन्न प्रकार की रचनाएँ कीं; अतएव बिना तत्कालीन इतिहास का परिज्ञान हुए इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता कि किस कवि ने किस आश्रयदाता के लिये किस प्रकार की रचना की। छत्रपति संभाजी के लिये वे विलासी थे अतएव कवि कलश जैसा उनका आश्रित कवि नायिका भेद जैसा विप्रलब्ध शृङ्गारयुक्त रचना निर्मित करसका किन्तु यदि कल कोई किसी अज्ञात शृङ्गारिक रचना को भूषण की बताकर वह छत्रपति शिवाजी महाराज के लिये रची गई थी, इस बात को कहे तो वह भी कभी विश्वास योग्य नहीं माना जायगा क्योंकि न तो महाराज को शृंगार आदि के लिये अवकाश ही था और न भूषण ही वैसी कृति लिख सकते थे; अतएव बिना अपने देश के इतिहास का ज्ञान हुए ग्रंथ संशोधन का कार्य नहीं हो सकता।

(२) **शास्त्र ज्ञान**– ज्ञान की विविध शाखाओं के संशोधन का भी अब शास्त्र बन चुका है। लिपि शास्त्र, मुद्राशास्त्र, मूर्ति-शिल्पादि उन्हीं के अंगोपांग है। ग्रंथ किस प्रकार के कागज पर लिखा हुआ है, उसकी लिखावट कैसी है, प्रतिलिपिकार साक्षर भी है या केवल किराये

का ढङ्ग । वाचन मातृकाओं (स्वर व्यञ्जन) और अक्षर मात्रिकाग्रन्थ की
कैसी है आदि बातें जानना संशोधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है ।
पारिभाषिक टिप्पणी लिखने में भी प्रवीणता चाहिये । नागरी प्रचारिणी-
सभा की ओर से ग्रन्थ परिचय सम्बन्धी जो फार्म प्रकाशित हुए हैं,
वे यथावत नहीं कहे जा सकते । अतएव हम अपना अनुभव जन्य
एक नमूना लिखे देते हैं । प्रोफेसर सत्येन्द्र जी ने ग्रन्थशोधन विधि में
जो चर्चा की है, वह भी लाभदायक है ।

(३) संस्कृतभाषा ज्ञान — ग्रन्थशोधन के लिये तद्भव, तत्-
सम शब्दों की जांच परख के लिये संस्कृत भाषा जानने की बड़ी
आवश्यकता है; क्योंकि प्रायः सभी भारतीय भाषायें संस्कृत संभूत
ही हैं । भारत में यवनों का अधिक समय तक आधिपत्य रहने के
कारण हमारी भाषा पर फारसी का भी बड़ा प्रभाव पड़ा; अतएव
शब्दों के मूल और धातु जानने के लिये वह भाषा भी जानना
आवश्यक है ।

(४) लिपिज्ञान—अ, ए, ण, आदि अक्षरों का विकास
विभिन्न शताब्दियों में हुआ है । १४वीं, १५वीं, १७वीं और १८वीं,
शताब्दि की लेखन प्रणाली विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग थी; अतएव
जो इनके अक्षरविन्यास का ज्ञान नहीं होगा, वह कदापि योग्य संशो-
धक नहीं कहा जासकता ।

(५) कार्यनिष्ठा — सबसे महत्व का गुण संशोधक में यही
होना चाहिये । यदि एक शिकारी अपने शिकार को अपने कब्जे में न
कर सका तो वह शिकार ही कैसे करेगा ? मठ, मंदिर और पंडितों के
यहां तो आपको यही जवाब मिलेगा कि यहां कोई सामग्री नहीं है;
अतएव संशोधक को उसका पीछा पकड़ना ही आवश्यक है । मकान की
दूसरी तीसरी मंजिल पर अंधेरे कमरे में बस्ते ही बस्ते पड़े सड़ रहे हों,
किन्तु न उसका स्वामी जिज्ञासुओं के पूछने ताछने पर एक धनिक की
नाईं अपनी पूंजी पर इठलाने लग जाता है और अपने वस्तु को बताने
तथा टिप्पणियां लेने में सहायता करने को भी आनाकानी करने
लगता है; किन्तु कार्यनिष्ठ संशोधक परिचय पत्र, द्रव्य का आमिष
आदि के बलबूते पर इच्छित वस्तु प्राप्त करही लेता है । संशोधक को
बड़ा पीछा पकड़ना पड़ता है । संशोधक के अनुभव भी बड़े मनोरञ्जक

और विचित्र होते हैं। कभी कभी तो संशोधक को उस व्यक्ति के मृत्युकाल तक बाट जोहनी पड़ती है, जिससे उनके उत्तराधिकारी के द्वारा सामग्री साध्य होसके।

(६) **कवि काव्य ज्ञान**— इसके विषय में हम ऊपर लिख ही चुके हैं कि हिन्दी में अभी तक के ज्ञात कवि और उनकी रचनाओं का एक ही स्थान पर संदर्भ नहीं मिलता, जिससे वर्तमान संशोधकों को बड़ी कठिनाई होती है। प्राप्त ग्रन्थ ज्ञात है या अज्ञात संशोधक को यह तो सूची से ही ज्ञात हो सकता है।

(७) **कष्ट**— प्राचीन वस्तुओं की खोजका कार्य वास्तव में देखा जावे तो किरायेदार लोगों से नहीं हो सकता, जिन्हें उस विषय की स्वाभाविक अभिरुचि हो, वे ही वह कार्य यथावत रूप में कर सकते हैं। स्वान्तः सुखाय कार्यकर्त्ता ही उस दिशा में प्रशंसनीय स्थायी कार्य कर सकते हैं, वैतनिक कार्यकर्त्ता को किसी स्थान पर कोई वस्तु होने का पता चले तो वह एकाध बार जाकर पूछताछ करेगा, अधिक से अधिक दूसरी बार भी जायेगा ? किन्तु पीछा तो वही पकड़ सकेगा, जिसको उस कार्य की लगन हो। स्वर्गीय आदर्श संशोधक इतिहासाचार्य राजवाड़ेजी ने काबुल से लगाकर कन्या कुमारी तक भूख प्यास सहकर पैदल यात्रा की थी, तब कहीं वे अमर कार्य कर सके। जिसके पास कोई संग्रह होता है वह उसका महत्व नहीं जनता । अधिकांश लोग उसी प्रकार के होते हैं और जब उन्हें उस वस्तु को बताने के लिये आग्रह किया जाता है तो वे उसे अत्यन्त गोपनीय समझते हैं। तथा उसे बताने में हीले हवाले करते रहते हैं। हफ्तों, महीनों और वर्षों तक कभी-कभी उनका पीछा पकड़ना पड़ता है। मैं गत पच्चीस वर्षों से प्राचीन वस्तुओं की खोज का कार्य करता हूँ, मेरे अनुभव की बातें बड़ी मनो-रञ्जक, विषादकारक और कभी कभी निराशा में परिवर्त्तित होने वाली भी सिद्ध हुई, किन्तु फिर भी साध्य के ध्येय को नहीं छोड़ा, जिससे अन्त में सफलता भी मिली। प्राचीन वस्तुओं का संशोधन आत्म-तुष्टि का अपूर्व उदाहरण होता है, जो भुक्तभोगी ही जानते हैं। पहाड़ खोदकर चूहा निकलना की कहावत की नाईं संशोधकों को प्रगाढ़ परि-श्रम के अनन्त जो साधन प्राप्त होता है, उसका भौतिक या आर्थिक

रूप से कोई महत्व नहीं रहता, हाँ ! प्राचीन सांस्कृति का साधन एकत्रित होने के कारण उसका नाम और यश अवश्य ही स्थायी हो जाता है। महाराष्ट्र साहित्य सम्राट केलकरजी ने संशोधकों के विषय में एक व्यङ्गात्मक सुभाषित की रचना की है, जिसका आशय यह है कि "संशोधक महाशय का महत्व रंगविरंगे किन्तु जीर्ण और उड़े हुए रङ्ग के चित्रों से विभूषित होता है, उसका सिंहासन जीर्ण लेख युक्त पत्थर और उसके वस्त्र दीमक के खाये हुए प्राचीन कागजात होते हैं। उनके कोष में भी पुराने सिक्के अर्थात् मुद्रायें रहतीं हैं; किन्तु बाजार में उसका कोई मूल्य नहीं होता, संदेहात्मक स्वभाव के कारण उसकी आँखों पर सर्वदा मैग्नीफाईङ्गलास चढ़ा रहता है। उसके आसपास अश्रद्धा और तर्क-वितर्क का जमघट बना रहता है। उस शून्य राज्य में राज्य करने वाले राजा की मुद्रा अर्थात् सिक्का मोर्तब भी रहता है; किन्तु उसकी आज्ञा से विलश्त भर जमीन भी किसी को नहीं मिल सकती तथा सेनादल की तो बात ही क्या, वृत्त का पत्ता भी वह नहीं हिला सकता।" यद्यपि उक्त बातें विनोद-गर्भित हैं और उससे प्रत्यक्त रूप में संशोधक की मखौल उड़ाई गई है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो ये निस्वार्थी और शुद्ध ज्ञानाभिलाषा की ही परिचायक हैं। मूल सुभाषित निम्न है—

"उद्ध्वस्तबर्ण रुचि चित्र कलापहर्म्य:
विच्छिन्न लेखन पुराण शिलासनस्थ:।
दुष्कीट भुक्त शतपल पर्यंत्तरीय:
निर्मूल्यनाणकगेणे: परिपूर्ण: कोशः।
नष्टाधिकार परिहासितगर्व मुद्र:
संदेह वृत्ति वंशवृहंणयंत्र दृष्टि:
श्रद्धावितर्क मरिचारक वेष्टितांग: संशोधक:
खलुप्रशास्ति विशून्यराज्यम्॥"

संशोधन कार्य के लिये किस प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं, इस बात का परिचय कराने के लिये यहां कुछ स्वानुभवजन्य बातें लिखी जाती हैं। सन् १८६५ में शिवपुरी में अँग्रेजी छावनी रहा करती थी। वहाँ के एक अँग्रेज सेनापति पेशावर में रह चुके थे। उन्हें पुरानी वस्तुओं के संग्रह करने का चाव था। अतएव उन्होंने पेशावर-तक्षशिला

आदि स्थानों से इन्डोग्रीक्स सिक्के एकत्रित किये थे। कुछ दिन के अनंतर शिवपुरी में ही उन महाशय की मृत्यु होगई। जब उनका माल नीलाम हुआ, उस समय अन्य सामान के साथ, अन्य की दृष्टि में नगण्य उन सिक्कों का डिब्बा भी एक बनिये ने खरीद लिया। सन् १६१७ में मैं वहाँ पहुँचा और मुझे जब उन सिक्कों का पता चला, तब मैंने उन्हें प्राप्त करने की इच्छा प्रगट की, किन्तु वे वणिक महाशय कह उठे कि जब से वे सिक्के उनके पास आये हैं, तब से वे खुशहाल होगये हैं, अतएव वे उन्हें दे नहीं सकते। मैं भी चुपचाप रह गया। आठ नौ वर्ष के पश्चात् जब मैं वहाँ तहसीलदार होकर पहुँचा, और वे सिक्के प्राप्त करने की इच्छा प्रगट की तो आनन-फानन में वे सेठ महाशय मेरे मकान पर आये, और उन्होंने सहर्ष सिक्कों का वह डिब्बा मुझे भेंट कर दिया। उसके प्राप्त करने में मुझे कितना संयम प्रयत्न और कष्ट उठाने पड़े, यह मैं ही जानता हूँ। उज्जैन के एक मठ में ग्रंथों का एक अच्छा संग्रह था, किन्तु मठाधीश उन्हें बताने में आनाकानी कर रहे थे। अन्त में मुझे अपना उद्देश्य साध्य करने के लिये कुछ द्रव्य व्यय करने की सूझी। सबसे पहिले मैंने उस मठ और मठाधीश का फोटो खींचा। फिर उस मठ के ग्रन्थ-संग्रह को व्यवस्थित रखने के लिये दो थान कपड़ा खरीद कर दिया। अनन्तर मठाधीश महाशय ने कहा कि उनके संग्रह में महादाजी सिंधिया की कविता है। मैंने उसे देखना चाहा तो कहा कि बस्तों में ढूँढ़ लो। तीन चार दिवस के कठिन परिश्रम के अनंतर उनके वृहत्संग्रह से मैंने वह ग्रन्थ ढूँढ़ निकाला, किन्तु मठाधीश महोदय उसकी नकल करवाने या उसे मकान पर नोट्स लेने के लिये ले जाने देने तक को राजी नहीं हुए। बड़ी कठिनता से कुछ प्रलोभन के बलबूते पर उन्होंने एक रात्रि के लिये मुझे पुस्तक देना स्वीकार किया। पुस्तक हाथ पड़ते ही मैं दूसरे दिन वहाँ से अपने घर चल दिया और उसकी नकल करके आठ दिवस के अनंतर क्षमा याचना और १०) रुपया दक्षिणा के साथ मूलग्रन्थ वापिस कर दिया, जिससे वह संग्रह माधवविलास नामक ग्रंथ रूप में प्रकाशित कर सका। अर्थात् संशोधन कार्य में कभी कभी उच्च ध्येय के कारण डंडे सहे करने के लिये भी बाध्य होना पड़ता है। एक और महाशय के यहां संस्कृत ग्रँथों का अच्छा संग्रह था। एक संशोधक महाशय उनके यहाँ से कुछ ग्रन्थ पढ़ने लेगये।

और उन्होंने वापिस नहीं किये, जिससे वे संग्राहक महाशय विदक गये और मेरी तरह अन्य कोई महाशय उनसे जिज्ञासा करते तो वे उत्तर देते कि उनका संग्रह उनके शव के साथ ही जला दिया जावेगा। मैंने उनके परिचित और आश्रयदाताओं की उन तक शिफारिशें भी पहुँचाईं, किन्तु मैं सफल न हो सका। वर्षों तक प्रतीक्षा करने के अनन्तर उनकी मृत्यु के बाद उनकी विधवा की सहायता से मैंने वह संग्रह देखा, जिसमें १५ वीं १६ वीं शताब्दी के नल-दमयन्ती चम्पू जैसे अपूर्व ग्रन्थ प्राप्त हुए, अर्थात् संशोधन के लिए योग्य अवसर की भी बाट जोहनी पड़ती है। गवालियर के एक मठाधीश का मनोरञ्जक वर्णन सुनने लायक है। उनके यहाँ कुछ संग्रह होने का पता चला तो मैं महीनों उनके अभिवचनानुसार प्रति रविवार को जाता और खाली हाथ लौट आता। मठ के आश्रयदाता एक सरदार तथा महन्तजी के अनुयायी एक शिष्य की शिफारिशें भी लड़ाईं। अन्त में मैं स्वयम् उनका भक्त बन गया और वार्षिक गुरुपूजन भी करने लगा, तब कहीं महन्त महोदय पसीजे और उन्होंने एक दिन रविवार को संग्रह बताने का अभिवचन दिया। मैं निश्चित समय पर पहुँचा और मठ के तहखाने से सैकड़ों ग्रंथ बाहर निकाले, जिसमें दस बीस मरे हुए चूहे और सड़े गले कागजों का ढेर भी निकाला। उसी में मुझे मठ को अग्राहार में दिए हुये पाँच गाँवों की वीरवर यशवन्तराव होल्कर की दी हुई सनदें, सातवीं शताब्दी का एक ताड़-पत्र का ग्रंथ (शारदा लिपि में लिखा हुआ) तथा अन्य कुछ सामग्री प्राप्त हुई, जिसके आधार पर मैं यथासम्भव नोट्स भी लेता गया। आठ नौ घंटे परिश्रम करने के अनन्तर दूसरे दिन नोट्स लेने के उद्देश्य से वह सामग्री ज्यों की त्यों रख छोड़ने का मैंने महन्त महोदय से विनय-अनुनय भी किया, किन्तु दूसरे दिवस पहुँच कर देखा तो महन्तजी के पट्ट शिष्य महाशय ने वह सामग्री तहखाने में दबाकर उस पर ताला ठोंक दिया और मुझे उसके नोट्स लेने से साफ इन्कार कर दिया। तो भी मैं प्राप्त सामग्री के आधार पर मठ संस्थापक सन्त कवि का चरित्र प्रकाशित करने में समर्थ हुआ। तीन चार वर्षों तक के प्रयत्न और उठाई-धराई का भी यथावत् परिणाम नहीं निकला। इसी से कहा जा सकता है कि संशोधक को केवल स्वान्तः सुखाय अपार कष्ट करने की आदत डालनी चाहिए।

(८) प्रेम — जिनके यहाँ से सामग्री हस्तगत करनी हो उनमें जब तक घुलने-मिलने, सौहार्द्र्य बताने और परस्पर प्रेम और विश्वास उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त नहीं होगी, तब तक सामग्री का संग्रह करने में सफलता मिलना कठिन है। यदि वध्य वस्तु आरंभ ही में छिटक जाय, तो शिकारी क्या कर सकता है ? प्राप्य वस्तु को प्रकाशित करने से तुम्हारे बाप-दादाओं का नाम होगा, भविष्य में तुम्हें उससे लाभ पहुँचेगा, तुम्हारा भी परिचय देश देशान्तर में हो जायगा आदि ममत्व की बातें जब तक गले न उतारी जायँ तब तक वस्तु प्राप्त करना कठिन होता है। जिस प्रकार मैसमेरिज़्म या हिपनाटिज़्म का प्रयोग किये बिना माध्यम के द्वारा इच्छित बातें ज्ञात नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार ग्रन्थ स्वामी को अपने वश में न कर लिया जावे, तब तक वह वस्तु हस्तगत नहीं होती। अतएव संशोधक को सहृदय होना ही चाहिये। यह अत्यन्त आवश्यक गुण है।

(९) मृदुजिह्वा — प्रियंब्रूयात का सुभाषित जिसने पढ़ा है, वही उसका महत्व जान सकता है। स्वर्गीय इतिहासाचार्य राजवाडेजी बड़ी लगन वाले निस्पृह किन्तु झक्की थे, वे कभी-कभी कटुभाषण द्वारा अत्यन्त अप्रिय भी बन जाते थे। एक समय आप ग्वालियर के शास्त्री महाशय का संग्रह देखने गये। उनका बावला सा चेहरा और झड़ूस रहन-सहन देखकर शास्त्री महाशय ने उनसे पूछा कि क्या आप कुछ जानते भी हैं, तब वे सहसा बोल उठे "मैं महा मूर्ख हूँ"। तब तो हमें मूर्ख को कोई बात बताना अभीष्ट नहीं है। यह जवाब शास्त्री जी से पाते ही आप तपाक से कह उठे, "ठीक है, आपकी मृत्यु होजाने के बाद जब आपकी विधवा इन ग्रन्थों को रद्दी में बाजार में बेचेगी तब मैं उन्हें खरीदकर देखूँगा।" परिणाम यह निकला कि राजवाडे जी उस संग्रह को देखने से वंचित रह गये, यदि मृदुभाषण उनमें होता तो वे बहुत अधिक कार्य कर सकते थे; अतएव संशोधकों को दूसरों पर अपना प्रभाव डालने के लिये मृदुभाषी होना आवश्यक है।

(१०) कल्पकता — इतिहास संशोधक को कल्पना के आधार पर प्राचीन वस्तुओं की टोह में रहना चाहिये। मैं भिण्ड जिले में नायब सूबा की हैसियत से एक ग्राम में दौरे को गया। वहाँ के मंदिर का पुजारी

गौड़ जाति का था। मैंने उससे पूछा "गौड़ तो जयपुर प्रान्त के निवासी होते हैं। तुम यहाँ कैसे? गौड़ों का मुख्य पेशा कत्थक का होता है।" तब उसने कहा कि आपने ठीक कहा मेरे दादा जयपुर में कत्थक का पेशा करते थे, जो रींवा नरेश महाराज रघुराजसिंह के आश्रित थे। उनका विवाह इस ग्राम में हुआ और दहेज में मंदिर मिला। मैंने पूछा तो तुम्हारे यहाँ नृत्य-संगीत सम्बन्धी कुछ साहित्य होगा ही। फिर दूसरे दिन मैं मंदिर पहुँचा और भगवान को २) चढ़ाये। उसी लोभ से प्रभावित होकर उसने अपने मकान के दूसरे मंजिल पर कोने में पड़े हुए बस्ते मुझे लाकर बताये जो कम से कम २५-३० वर्षों से खोले तक नहीं गये थे, किन्तु मुझे सौभाग्य से उन्हीं में, संगीत, नृत्य, भजन, अकलनामा, चकत्ता की परम्परा आदि अपूर्व सामग्री प्राप्त हुई। ब्राह्मणों (पंडित-पुराणिक) के गृह, मंदिर, मठ आदि में प्राचीन ग्रंथ, बनिये-ठठेरों के यहां पुरानी मुद्रायें, भाट-चारणों के यहाँ मौखिक साहित्य, राजपूतों, जागीरदारों व काजियों आदि के यहाँ सनदें, फ़रमान और पुराने देवालयों, सतीस्तभों, छतरियों पर शिलालेख तथा शीतला माता के संग्रहों में प्राचीन शिल्पों के अवशेष ढूँढने में संशोधकों को अपनी कल्पना का उपयोग करना पड़ता है। किसी स्थानिक व्यक्ति की सहायता से प्राचीन सामग्री आसानी से टटोली व साध्य की जा सकती है। अपने पैरों पर खड़े रहना और अपनी कल्पना से नूतन सामग्री ढूँढ निकालना ही यथार्थ प्रतिभा का परिचायक होता है। संशोधक में यही गुण अधिक मात्रा में होना आवश्यक है।

ऊपर संशोधकों के मुख्य एवं आवश्यक गुणों का संक्षेप में अनुभवजन्य उदाहरणों से परिचय दिया गया है। साधन सामग्री की चिकित्सा और मीमांसा अनुभव से ही की जा सकती है। यदि उस क्षेत्र में किसी ने कार्य किया हो भी तो उसका अनुभव अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है। लिपिशैली, भाषा प्रकार, लेखक का निवास, ग्राम, आश्रयदाता का परिचय, रचनाकाल आदि विषय की बारीकियाँ और खूबियाँ जानना और प्रगटीकरण महत्व का होता है। स्थानीय और प्रान्तीय संशोधक अपने-अपने स्थान पर जितनी सुलभता से कार्य कर सकते हैं उतनी सफलता बाहर के नौकर संशोधकों को प्राप्त होना कठिन है। हिन्दी में श्री कृष्णबिहारीजी मिश्र

द्वारा प्राचीन साहित्य सम्बन्धी चर्चा करने वाला साहित्य-समालोचक पत्र प्रकाशित किया गया था, अभी ओरछा से भी लोकवार्ता का प्रकाशन आरम्भ हुआ था, किन्तु वह पत्र भी अकाल में ही काल-ग्रसित होगया। यदा-कदा नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्राचीन साहित्य की चर्चा सुनाई देती है, किन्तु परभाषाओं में उस विषय के स्वतन्त्र पत्र प्रकाशित होते हैं। अनेक प्रान्तीय भाषाओं की संस्थाओं के पाक्षिक, मासिक, और वार्षिक अधिवेशन होकर उनमें नूतन संशोधित ग्रन्थ, कवि तथा प्राचीन साहित्य सम्बन्धी चर्चा भी होती रहती है। भगवान् करें हिन्दी में भी ऐसी संस्थायें स्थापित हों, जो लगन के संशोधक तैयार करें और उनके प्रयत्न सामयिक पत्रों के रूप में प्रकाशित होकर नवयुवकों में प्राचीन साहित्य सम्बन्धी श्रद्धा बढ़ाने का साधन उपलब्ध हो जाय।

ब्रजभाषा साहित्य का प्रवृत्तिगत विकास

[व्याख्याता:—श्री गुलाबराय एम० ए०]

ब्रजभाषा की महत्ता—खड़ी बोली के साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व ब्रजभाषा का सबसे अधिक साहित्यिक मान रहा है। वह हिन्दी साहित्य-जगत की राष्ट्रभाषा के स्पृहणीय पद पर आसीन थी। वह अपनी वास्तविक एवं प्रभावगत व्यापकता के कारण अपने इस पद को सवा सोलह आने सार्थक कर रही थी। जहाँ-जहाँ कृष्णोपासनाका प्रभाव रहा है, वहाँ-वहाँ ब्रजभाषा का साम्राज्य रहा है—कुछ कुछ वैसा ही जैसा कि भूषण ने शिवराज के अधिकार के संबंध में कहा है 'पूरब पछाँह देस दच्छिन से उत्तर लौं, जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज कौ'। ब्रजभाषा का क्षेत्र शौरसेन प्रदेश में ही सीमित नहीं रहा, वरन् मीरा और नरसी महता के कारण राजस्थान और गुजरात तक फैला हुआ था। वैष्णवों का कृष्णभक्ति सम्बन्धी साहित्य चाहे वह बंग भाषा में ही क्यों न हो, ब्रजबोली के नाम से प्रख्यात है। सुदूर दक्षिण में भूषण ने छत्रपति शिवाजी का यशगान कर ब्रजभाषा की विजय वैजयंती स्थापित की थी।

भारत में सदा से मध्यदेश की भाषा का बोलबाला रहा है। शौरसेनी प्राकृत सब प्राकृतों में मुख्य गिनी जाती रही है। कुछ आचार्य तो उसका महाराष्ट्री से तादात्म्य करते हैं और शेष प्राकृतों का उसके मापदंड से मापा जाना बतलाते हैं। शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश दोनों से ही उनकी उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा का अधिक मान रहा है।

ब्रजभाषा की कुछ विशेषताएँ— ब्रजभाषा का मान बे-मुल्क के नवाबों का सा केवल शाही आभिजात्य पर ही निर्भर न था। वह अपने अपूर्व नाद-सौन्दर्य में पूर्ववर्तिनी भाषाओं से भी चार कदम आगे बढ़ी हुई थी और अर्थ गांभीर्य में भी किसी से पीछे न थी। उसके व्याकरण की विशेषताएँ बतलाना या तो डा० धीरेन्द्र वर्मा या

किशोरीदास वाजपेयी का काम है। मेरे लिए व्याकरण तो व्याकरण के मूलस्रोत माहेश्वर सूत्रों में अभिव्यक्त होने वाले डमरूनाद से अधिक सार्थक नहीं हो पाया है। 'प्राप्ते सन्निहिते मरणे' की बात को तो मैं छोड़ दूँगा क्योंकि मृत्यु का नाम ही बुरा है, फिर बच्चन जी के शब्दों में 'उस पार न जाने क्या होगा' किन्तु उसके आगे की बात अवश्य कहूँगा 'नहि नहि रक्षति डुकृञ्‌ करणे' कह कर अपने व्याकरण संबंधी अज्ञान पर सुन्दर दार्शनिक आवरण डाल लेना चाहता हूँ। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मुख-सुख और श्रुति-मधुरता के जितने भाषा-शास्त्र सम्बन्धी साधन हैं वे सब ब्रजभाषा की उच्चारणगत विशेषताओं में उदारतापूर्वक अपनाये गये हैं। ब्रजभाषा न पश्चिम की खड़ी बोली की भाँति खड़ी और न पूरब की भाँति पड़ी है। उसके सर्व-नाम, विशेषण और भूतकालिक कृदन्त न तो खड़ीबोली के हमारा छोटा, बड़ा, गया आदि की भाँति आकारान्त हैं जिनमें पूरा मुँह खोल कर दीनता से मुँह बा देने का प्रयोग सार्थक होता है और जिनमें सारी संचित प्राणशक्ति का दिवाला निकल जाता है और न अवधी की सी हमार, छोट, बड़काव आदि लघ्वन्त शब्द सम्बन्धी उच्चारण की कृपणता है जिनमें कंजूसों की मुट्ठी की तरह ओष्ठपुट बन्द हो जाते हैं। उसके शब्द ओकारान्त होते हैं, जिनके उच्चारण में न ओष्ट बिलकुल चौपट खुल जाते हैं और न बन्द ही रहते हैं। ब्रजभाषा में संधियों से भी पूरा-पूरा लाभ उठा कर मुख-सुख की पूर्ण साधना की गई है। अवधी इकार बहुला है और ब्रजभाषा यकार बहुला। अवधी का उ ब्रजभाषा में व हो जाता है। अवधी में उ के पश्चात आ का उच्चारण भी ब्रजभाषा के अनुकूल नहीं है। उसके दुआ और कुआर ब्रजभाषा में द्वार, क्वार हो जाते हैं। ब्रजभाषा में श का स, ण का न, व का ब हो जाना उसकी कोमल प्रकृति का द्योतक है। खैर, हमारा विषय ब्रजभाषा का व्याकरण नहीं है, उसका साहित्य है। मैं इस प्रसंगान्तर में इसलिए पड़ गया कि बता सकूँ कि ब्रजभाषा साहित्य की व्यापकता के क्या कारण हैं। मेरी समझ में संक्षेप में इसके तीन कारण हैं—

१. कृष्णोपसना का आश्रय।

२. श्रुति-माधुर्य।

३. मानवी भावों के कोमल और सरस पक्ष से सम्बन्ध।

ब्रजभाषा-साहित्य का प्रारंभिक काल—ब्रजभाषा काव्य के बाल्यकाल का सीधा परिचय हम लोगों को बहुत कम है। हिन्दीसाहित्य-गगन के सूर्य सूर में हमको प्रथम दर्शन उसके पूर्व यौवन-काल में होते हैं। बाल्यकाल उसका अनुमेय मात्र है। यत्र-तत्र उसकी झाँकी हमको अवश्य मिली है। किन्तु उस बाल्यकाल और यौवन-काल में किसी विकाससूत्र का पाना बहुत कठिन है। गुरु गोरखनाथ में हमें उसके गद्य की झलक मिलती है। उस समय यदि गद्य लिखा जा सका तो पद्य शायद उससे भी पूर्व अस्तित्व में आ चुका होगा। आचार्य शुक्लजी ने संवत् १४०० के करीब के गद्य का जो नमूना दिया है, वह इस प्रकार है:—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्दस्वरूप हैं शरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें शरीर चेतन्नि और आन्दमय होतु है।"

शुक्लजी ने ब्रजभाषा के दो प्राचीन पदों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। एक के सम्बन्ध में तो यह कहा है कि वह समान रूप से कबीर और सूर में मिलता है। वह इस प्रकार है:—

हे हरि भजन को परवान
नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते निसान,
भजन को परताप ऐसो तिरे जल पाषान,
अधम भील, अजाति गनिका चढ़े जाति बिमान।

दूसरा पद उन्होंने बैजू बावरे का जो तानसेन के गुरु थे, बतलाया है। वह इस प्रकार है—

मुरली बजाय रिझाय लइ मुख मोहन तें
गोपी रीझ रही रस तानन सो
सुध बुध सब बिसराई
बैजू बनवारी बंसी अधर धरी, वृंदावन चंद बस किए सुनत ही कानन

सेन कवि के एक कवित्त को प्रकाश में लाने के लिए हम पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के ऋणी हैं। श्रद्धेय मिश्रबंधुओं ने शिवसिंह सरोज के आधार पर सेन कवि का काल १५०३ बतलाया है। सेन का कवित्त इस प्रकार है—

जब ते गोपाल मधुवन को सिधारे आली
मधुवन भयो मधुदानव विषम सों
सेन कहैं सारिका सिखंडी खंजरीट सुक
मिल कै कलेस कीनों कालिंदी कदम सों।

यों तो पृथ्वीराज रासो की भाषा को डा० श्यामसुन्दरदासजी ने पिंगल कहा है—पिंगल-डिंगल के विरोध में ब्रजभाषा का परिचायक है। वह पिंगल केवल सुव्यवस्थित छंदबद्धता और भाषा की प्राँजलता के कारण ही नहीं है, वरन् उसमें ब्रजभाषा का प्रभाव भी है। उसमें योकारांत क्रियाओं का बाहुल्य है। यह बात राजस्थानी के व्यापक गुरु के रूप में भी ली जा सकती है। कबीर के कहे जाने वाले पद में भी संदेह हो सकता है। सेन के काल में भी अंतर होने की सम्भावना है, किन्तु बैजू के पद से यह अवश्य संकेत मिलता है कि सूर से पहले कम से कम ब्रजभाषा गीत-काव्य की एक मौखिक परंपरा अवश्य थी और उसमें कृष्ण के रूपमाधुर्य का—यदि दार्शनिक भाषा के प्रयोग के लिए अप्रतीत्व दोष से मेरी भाषा लांछित न की जाय तो मैं कहूँगा कि समवाय सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। ब्रज वनिताओं का सा ब्रजभाषा का कृष्ण प्रेम आज तक उसकी नस नस में प्रवेश किए हुए है। 'लरिकाई को प्रेम आलि कहौ कैसे छूटे।'

कृष्ण काव्य की परंपरा—कृष्ण काव्य की लोकप्रियता हिन्दी, बंगला आदि प्रांतीय साहित्यों तक ही सीमित नहीं है, वरन् उसके मूलतन्तु संस्कृत और प्राकृत साहित्य में दूर तक दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्ण की महत्ता और लोकप्रियता कृष्णोपासना की व्यापकता और प्राचीनता पर निर्भर है। विष्णु की महत्ता वैदिक काल में ही प्रस्थापित हो चुकी थी। विष्णु शब्द 'विश' धातु से बना है। वैदिक काल में उनका सूर्य से तादात्म्य रहा है। गीता में भी यह बात स्वीकृत हुई है, 'आदित्यानामहं विष्णुः'। वामनावतार की कथा का जो संकेत हम को बीज रूप से ऋग्वेद में मिलता है—

विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा च निदधे पदं समूढमस्य पांशुरे (ऋ० १, २, ७२)

वह उनकी व्यापकता का द्योतक है। विष्णु के अवतारों में जितनी प्रसिद्धि और पूजा राम और कृष्ण को मिली, उतनी और किसी को नहीं। राम (सब में रमने वाले) और कृष्ण अपने वासुदेव नाम से व्यापकता के द्योतक होने के कारण विष्णु के ही पर्याय हैं।

बसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः;
वासुदेवस्ततो वेद्यो वृहत्वाद विष्णुरुच्यते ।

अर्थात्, सब भूतों में बसने के कारण अपनी दीप्ति के कारण देवताओं की उत्पत्ति के स्थान होने के कारण वे वासुदेव कहलाते हैं, और विराट रूप होने के कारण विष्णु कहलाते हैं।

ऋग्वेद में भी विष्णु का गौओं से सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध में डा० नलिनी मोहन सान्याल ने लिखा है कि ऋग्वेद में (१, २२, १८) विष्णु गोपा नाम से अभिहित हुए हैं । ऋग्वेद (१, १५४, ६) में विष्णुलोक में बहुशृंग-विशिष्ट गायों का उल्लेख है। मैंने स्वयं वेदों के दर्शन तो शायद आर्य-समाज की कृपा से कर लिये हों, किन्तु उन्हें पढ़ा नहीं है। फिर भी मुझे विश्वास है कि यह उल्लेख ठीक है। इसमें अर्थभेद हो सकता है। किन्तु बीज रूप से गोपाल कृष्ण सम्बन्धी मनमोहक कथाओं की आधारभूमि उपस्थित करने के लिए इतना उल्लेख पर्याप्त है। छांदोग्य उपनिषद् (३, १७, ६) में देवकी पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पाणिनी के समय वासुदेवक शब्द वासुदेव सम्प्रदाय की व्यापकता का साक्षी है। छांदोग्य उपनिषद् में आई हुई शिक्षाओं का गीता के मंतव्यों से साम्य होने के कारण छांदोग्य और गीता के कृष्णों का तादात्म्य किया जाता है। वे एक न भी हों, पर इससे यह अवश्य प्रमाणित हो जाता है कि कृष्ण नाम की प्रसिद्धि वैदिक काल में भी थी।

राधा रानी का नाम इतना पुराना नहीं प्रतीत होता। श्रीमद्भागवत में राधा नाम का उल्लेख नहीं है, इस बात को वैष्णव आचार्यों ने स्वीकार किया है। राधा नाम का नितान्त अभाव न था। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का दूसरा नाम राधा है। राधा का नाम न होते हुए भी श्रीकृष्णजी की बाल और यौवन लीलाओं का माधुर्य पक्ष श्रीमद्भागवत् तथा पद्मपुराण में विकसित हो चुका था। पुराण ही नहीं, कवि-कुल-गुरु कालिदास, जो अपने धार्मिक विश्वासों में शैव प्रतीत होते हैं, कृष्णलीला तथा भगवान कृष्ण के बिहार-स्थान वृन्दावन और गोकुल के माधुर्य से प्रभावित थे। वे मेघदूत में इन्द्र-धनुष से सुशोभित मेघ की उपमा मोर-मुकुट-मंडित गोपवेश-धर विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण से देते हैं। देखिए,

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः-पू० मे० १५

इतना ही नहीं रघुवंश में भी भगवान कृष्ण की सुन्दरता को उपमान बनाया गया और वृन्दावन और गोकुल के प्राकृतिक माधुर्य का प्रशंसात्मक शब्दों में उल्लेख हुआ है। इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर उसकी सखी सुनन्दा मथुरा के राजा सुषेण की ओर इशारा करके कहती है:—

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापि रुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ॥
सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तर पुष्प शय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः ॥
अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥

—रघुवंश, छठा सर्ग ४८, ४९, ५०।

कालिदास से पूर्व भास ने भी बाल-चरित में कृष्ण लीलाओं का वर्णन किया है।

राधा का उल्लेख भी हम को प्राकृत तथा संस्कृत के साहित्य ग्रन्थों में मिलता है। हाल सप्तशती में एक श्लोक आता है, जिसका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

मुखमारुतेन त्वं कृष्णगोरजो राधिकाया अपनयन।
एतानां वल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥

ध्वन्यालोक में भी एक श्लोक उध्दृत है जिसमें राधा का उल्लेख है—

तेषां गोपवधुविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणा।
क्षेमः भद्रकलिन्द शैलतनया तीरेलतावेश्मनाम् ॥

यह तो अवैष्णव साहित्य की बात रही। वैष्णव साहित्य तो राधाकृष्ण की लीलाओं से ओत-प्रोत है। वैष्णवों में सबसे पहले निम्बार्काचार्य ने राधा की उपासना को महत्व दिया। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि आचार्यों ने इस महत्व को और भी व्यापक बनाया। जयदेव ने अपनी कोमलकांतपदावली द्वारा विलास-कला कौतूहल में सरस मनवालों के लिए हरि-स्मरण का साधन प्रस्तुत किया—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुर कोमलकान्तपदावलीं,
शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ।

विद्यापति ने भी इसी सूत्र को लेकर सरस काव्य-रचना की। चैतन्य महाप्रभु द्वारा ही जयदेव, विद्यापति और चंडीदास के गीत-काव्य की भावलहरी वृन्दावन तक प्रवाहित हुई। चैतन्य महाप्रभु और उनकी शिष्य-परम्परा द्वारा भक्ति के अन्तर्गत जिस मधुर व उज्ज्वल रस कीं विवेचना हुई उसमें नायिका भेद के लिए आश्रय मिला, यद्यपि इनके नायिका भेद का आधार आलंकारिकों के आधार से कुछ भिन्न था तथापि उसमें नायिकाओं के विभिन्न भेदों का विवेचन मिलता है। इस प्रकार कृष्ण-काव्य पर तीन मुख्य प्रभाव थे—

(१) श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में वर्णित श्रीकृष्णजी की लीलाएँ।

(२) निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य आदि आचार्यों की भक्ति-सम्बन्धिनी मीमांसाएँ।

(३) चैतन्य महाप्रभु द्वारा लाई हुई जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की गीत-परम्परा तथा कीर्तन की प्रवृत्ति।

ये तो मूल प्रभाव थे। इन प्रभावों के अतिरिक्त स्थानीय लोकगीतों का भी प्रचलन होगा। संत-साहित्य के गीत जन समुदाय में लोकप्रिय हो चुके थे। सूफियों के प्रेम-प्रधान गीतों का भी चलन था। देवमन्दिरों की गीतवाद्य-प्रधान उपासना पद्धति ने भी कृष्ण-भक्त कवियों की गीतकाव्य रचना में प्रोत्साहन दिया होगा। इस धार्मिक और संगीत-प्रधान वातावरण में कृष्ण-काव्य की रचना हुई। कृष्ण-प्रेम की इस धारा ने भक्ति-साहित्य को ही प्रभावित नहीं किया, वरन् रीतिकालीन साहित्य को भी यह अनुप्राणित करती रही।

भक्तिकाल की मानसिक पृष्ठभूमि—

साहित्य का विकास तत्कालीन जातीय जीवन और उसमें प्रवाहित होने वाली विचार धाराओं पर निर्भर रहता है। कवि और साहित्यकार अपनी विशेष संवेदनशीलता के कारण समाज के वायु-

मण्डल में बिखरी हुई विचार-तरंगों को रेडियो के आकाशी (Ariel) की भाँति ग्रहणकर अपनी कल्पना और अभिव्यञ्जना के बल पर जनता के लिए ग्राह्य बना देते हैं। हिन्दी साहित्य भी समाज की गति के साथ प्रतिस्पंदित हुआ है। वीरगाथा-काव्य संघर्ष युग की देन है। किन्तु उसमें संघर्ष की मारकाट और एक छोटे राज्य को ही देश मानने की संकुचित पर सच्ची वीर भावना के साथ प्रेमाश्रित स्त्री-परित्राण भावना से उत्पन्न शृङ्गारिकता का भी पुट है। उन दिनों वसुन्धरा की भाँति रमणी भी वीरभोग्या नहीं, आजकल की भाषा में वीर-पूज्या रही। काव्य उन दिनों राज्याश्रित अवश्य था, किन्तु कुछ उदार भावना के साथ। कवि स्वयं भी वीरोल्लास में प्रवाहित हो जाता था। उस समय के वीरों की वीरता में दैवी-भावना भी मिश्रित रहती थी और प्रचलित लोककथाएँ भी उनके जीवन के साथ अनुस्यूत रहती थीं। इसी कारण इस साहित्य में लोकसाहित्य के लक्षण उत्पन्न हो गये थे। फिर भी इस युग की चिन्ता-धारा राजाओं और उनसे सम्बन्धित वीरों तक ही सीमित रही। उसमें हृदय की सच्चाई, भावुकता और आलंकारिकता थीं, किन्तु चिन्ता और विचार की कमी थी। क्रिया का प्राधान्य चाहे वह कुछ विकृत रूप में ही रहा हो—अवश्य था।

हिन्दू शक्ति के ह्रास हो जाने पर वीरों को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति कुछ निरर्थक सी हो गई। 'निर्वाण दीपे किं तैल्यदानम्' उस समय हार की मनोवृत्ति का प्राधान्य था। देश में नैराश्य की छाया थी। ऐसी मनोवृत्ति की दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं, या तो किसी दूसरे क्षेत्र में अपनी उच्चता प्रमाणित कर मानसिक क्षोभ को दूर करने की सचेत अथवा अवचेतनगत प्रवृत्ति या विलासिता के कृत्रिम आनन्द की मदिरा में अपनी विफलताओं को भुला देने का प्रलोभन। एक प्रवृत्ति स्वस्थमन की है। दूसरी शैथिल्य जर्जरित अस्वस्थ मन की। पहली प्रवृत्ति भक्तिकाल में विकसित हुई और दूसरी का आभास हमको रीतिकाल में मिलता है। यह एक प्रवृत्ति-मात्र है। सारे रीति-काल को इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का उदाहरण समझना उसके साथ अन्याय करना है।

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। साहित्य और कला में भी वह

अपना अस्तित्व रखता था। जाति के उस उच्चता-भाव ने धार्मिक-और मानसिक जागृति को कुछ विशेष गति प्रदान की। इसके अतिरिक्त जब धर्म और संस्कृति का संरक्षण लोहे की धार से होना असंभव सा प्रतीत होने लगा, तब विचारों के परकोटे को सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता प्रबल हो उठी। स्मृतियों की टीकाएँ बनीं, दर्शनों के भाष्य तैयार हुए, जिनके द्वारा भक्ति-भावना को दृढ़ करने के लिए शास्त्रीय आधार उपस्थित किया गया। साहित्य के क्षेत्र में आलंकारिक ग्रंथ रचे गये। संघर्षजन्य भौतिक क्रिया की अपेक्षाकृत कमी मानसिक क्रिया से संतुलित हो उठी। उस समय आलस्यजन्य विलासिता नहीं उत्पन्न हुई थी और न जनता का मन शैतानी कारखानों (Devil's workshop) के रूप में परिणत हुआ था।

शान्ति स्थापित हो गई थी, किन्तु सामाजिक विषमताएँ अपना अस्तित्व जमाये हुए थीं। ये दो प्रकार की थीं—एक हिन्दू-मुसलमानों की, दूसरी अवर्ण-सवर्ण की। इन विषमताओं को दूर करने की आवश्यकता थी। सवर्ण और अवर्ण की विषमता को दूर करने की प्रवृति बौद्ध-धर्म में विकसित हो चुकी थी। हीनयान में समता की भावना संघ के कठोर नियमों से शासित थी। उस शासन की प्रतिक्रिया महायान में हुई और वह बज्रयान और सहजयान में तंत्रवाद के सहारे वाममार्ग की उच्छृङ्खलता तक पहुँच कर हिन्दू धर्म में लीन हो गयी थी किंतु उसमें अपनी स्वतंत्रता की छाप हठयोग-प्रधान गोरखपंथ को उत्तराधिकार के रूप में प्रदान कर दी थी। परिस्थितियों ने उस विचारधारा से भी लाभ उठाया। गोरखपंथ में समता की भावना के साथ महायान की भक्ति-भावना और शेष तंत्रों से मिली हुई अद्वैत भावना भी थी। शाँकर अद्वैतवाद विद्वानों की मंडली में अपना मानसिक प्रभाव जमाये हुए था। उसकी प्रतिक्रिया में उठी हुई रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद, बल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद और मध्वाचार्य के द्वैतवाद की विचारधाराएँ विचार क्षेत्र को तरंगित कर रही थीं। इन्हीं धाराओं के अन्तर्गत रामानुज से प्रभावित रामानन्दी सम्प्रदाय और मध्व, बल्लभ तथा निम्बार्क से प्रभावित चैतन्य महाप्रभु के गौड़िया सम्प्रदाय ने जन्म लिया। रामानुज सम्प्रदाय के अन्तर्गत रामानन्दी सम्प्रदाय में रामोपासना

का प्राधान्य रहा और शेष तीन सम्प्रदायों में कृष्णोपासना का। इन सब प्रतिक्रियात्मक विचारधाराओं में तीन व्यापक सूत्र थे। (१) विचार का भाव से समन्वय। (२) ईश्वर से किसी रूप में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की भावना और अपने उद्धार तथा सुधार के लिए भगवत् कृपा का अवलम्बन। (३) भक्ति का द्वार जनता के लिए खोलकर भक्ति को व्यापकता देना।

इन सब मानसिक विचार धाराओं ने साहित्य को प्रभावित किया, और साहित्य से इनको बल मिला। साहित्य में भावना का पुट रहने के कारण उसमें विचारों में वेग और संक्रामकता उत्पन्न करने की क्षमता रहती है।

यहाँ पर यह बता देने की आवश्यकता है कि मुसलमानों के पैर जम जाने पर शांति के सदुपयोग और एक दूसरे के निकट आने की भी भावना दोनों ओर थी। मुसलमानों में सब लोग नितान्त बर्बर प्रकृति के न थे। उनके पास भी धर्म, साहित्य और कला थी। उनमें कुछ मुलायम तबियत के लोग भी थे। हिन्दुओं में आर्थिक और आध्यात्मिक भाव की प्रधानता होते हुए भी सामाजिक पक्ष की उपेक्षा न थी। कुछ समझौते की ओर प्रवृत्त थे, कुछ अपनी संस्कृति अक्षुण्ण रखना चाहते थे।

भक्तिकाल की साहित्यिक धाराएँ—

उपर्युक्त विवेचन में हम देख चुके हैं कि इस जागृति के दो पक्ष थे, एक आध्यात्मिक, और दूसरा सामाजिक। आध्यात्मिक पक्ष में शंकराचार्य के ब्रह्मवाद, गोरखपंथियों का हठयोग-प्रधान निर्गुणवाद, वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत रामोपासना और कृष्णोपासना की सगुण धाराओं तथा सूफियों की प्रेम भावना का प्राधान्य था। इनसे प्रभावित इस युग में साहित्य की चार धाराएँ चलीं। शंकराचार्य के ब्रह्मवाद और मायावाद, गोरखपंथ के हठयोग और सामाजिक समतावाद, रामानन्द के भक्तिवाद तथा सूफियों की प्रेम-पीर लेकर कबीर की निर्गुण धारा चली। सामाजिक पक्ष में सुधार और समता की भावना थी और कुछ अक्खड़पन के साथ। किन्तु सारा निर्गुण साहित्य ऐसा न था। दादू, पीपा, रैदास, मलूकदास, आदि में समता भाव सौम्य भाव के साथ था। नानक आध्यात्मिक बल का

भौतिक बल के साथ योग करना चाहते थे। निर्गुण से प्रभावित फारसी प्रेमवाद से समन्वित प्रेममार्गी कवियों की साहित्यिक धारा चली। उसने किसी अंश में हठयोग को भी अपनाया था। इन्होंने सामाजिक समन्वय हिन्दी भाषा, हिन्दू कथाओं और संस्कृति को अपनाकर करना चाहा।

गोरखपंथ के प्रति प्रतिक्रिया को लेकर और वैष्णव विचार धारा से प्रभावित होकर राम और कृष्ण भक्ति की शाखाओं ने जन्म ग्रहण किया। उन्होंने पांडित्य और आभिजात्य का गर्व दूर कर भगवत कृपा को प्राधान्य दिया। अजामिल, गणिका, निषाद, शबरी, गीध आदि के उदाहरणों से सामाजिक विषमताओं की कटुता दूर की गई। वैष्णव मत में कम से कम ईश्वर के लिए कुल-अकुल का विचार न था—

काहू के कुल नाँहि विचारत !
अविगत की गति कहौ कौन सो पतित सबन को तारत।

तुलसी ने वर्णाश्रम की मर्यादा के साथ अपना संदेश दिया। सूर ने वर्णाश्रम का विरोध तो नहीं किया, किन्तु तुलसी की तरह उसको महत्ता भी नहीं दी। इन सब धाराओं में पारस्परिक भेद के साथ कुछ भाव समन्विति भी थी, जिसके कारण वे एक सूत्र में बँध सकीं। इस भाव समन्विति के सूत्र थे—

(१) आत्म-समर्पण की भावना
(२) गुरुभक्ति
(३) नाम-महिमा
(४) प्रेम मार्गी कवियों को छोड़कर शेष तीन में प्राकृतिक जनों की प्रशंसना और गुण गान से विरक्ति (प्रेम मार्गी कवियों में प्राकृत जनों का गुण गान का लक्ष्य आध्यात्मिक ही था)।

भक्तिकाल में कृष्ण काव्य का स्थान—

जैसा ऊपर कहा गया है पंडितों ने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या की, कवियों ने अपनी प्रतिभा के वाष्प-यंत्र में आचार्यों की दार्शनिक गरिष्ठता नीचे विठाल कर भक्ति के शुद्ध रागात्मक रूप का जनता में

प्रचार किया। कबीर की वाणी में दार्शनिक गरिष्ठता के साथ प्रेम का अवलेह मिला हुआ था। उसके अनुपान से वह जनता के गले में उतर सका। फिर भी उसमें शर्बत मिले हुए कुनीन मिक्सचर की सी उभयपक्षी डाट-फटकार की कटुता थी। कबीर ने निर्गुणवाद की दरिद्रता और नग्नता पर जो शृंगारिक आवरण डालना चाहा था, वह उनकी झीनी-बीनी चादर की भाँति इतना झीना था कि उसके द्वारा निर्गुणवाद की शुष्कता छिप न सकी। शून्य महल की सेज शून्य ही पड़ी रही। प्रेम-मार्गी कवियों ने लौकिक कथाओं के सहारे प्रेम भाव की साधना, रूपक, अन्योक्तियों, शुक्ल जी के शब्दों में, समासोक्ति द्वारा की। उन्होंने लौकिक के स्थूल आधार पर खड़े होकर व्यंजना की सीढ़ी से ऊपर चढ़ने का प्रयत्न किया। उन्होंने उसे प्रकृति में भी व्याप्त देखना चाहा। उनका आलंबन सगुण तो हुआ किन्तु साकारता न प्राप्त कर सका। उसमें हिन्दू कहानियों का आधार अवश्य था, किन्तु उनकी विदेशी गंध दूर न हो सकी और उनका अध्यात्मपक्ष व्यंग्य रहने के कारण यह प्रबल न हो सका। लोगों का ध्यान उसके भौतिक पक्ष की ओर अधिक रहा।

तुलसी और सूर ने राम-कृष्ण की भक्ति के आधार पर जो रासायनिक पाक तैयार किया, वह इतना मधुर था और किसी अंश में पौष्टिक भी कि जनता ने उसे बड़े प्रेम के साथ ग्रहण किया। और उसका बिना समालोचकों की कृपा का मुखापेक्षी बने, बिना लाउड-स्पीकरों के बिना अखबारों के मुख पृष्ठ पहले से सुरक्षित कराये, बिना सिनेमा स्लाइडों के प्रदर्शन आदि प्रचार और विज्ञापनों के सुलभ साधनों को अपनाये और राज्याश्रय का तिरस्कार करते हुए भी जनता में पूर्ण स्वागत हुआ।

कृष्ण रसायन में चाहे राम रसायन की अपेक्षा पौष्टिकता कुछ कम हो, किन्तु स्वाद अधिक था। मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों से उसका सीधा सम्बन्ध था। वैसे इस काल का सभी काव्य लोक-साहित्य कहे जाने की क्षमता रखता था, किन्तु कृष्ण काव्य जनता के हृदय के साथ निकटतर सम्बन्ध स्थापित कर सका। उसने भगवान कृष्ण की बाल और यौवन लीलाओं के वर्णन द्वारा जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्‌घाटन कर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करदी। जो लोग

जीवन को सत्य और सरस मानते हैं, वे ही उसकी रक्षा के लिए सचेष्ट हो सकते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में राम और कृष्ण भक्त कवियों की भक्ति का आरम्भ सगुण और साकार था और उनका भौतिक प्रत्यक्ष तो नहीं, किन्तु मानसिक प्रत्यक्ष अवश्य हो सकता था। साहित्य के लिए जैसे व्यक्तित्व-प्रधान आलम्बन की अपेक्षा की जा सकती थी, वह आलंबनत्व राम और कृष्ण दोनों ही में था। किन्तु सूर और अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य के आलम्बन लोक-जीवन से अधिक निकट थे। वे जन-जीवन से दूर राज भवनों के रहनेवाले न थे। उनमें ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का सहज आकर्षण था। उनके माधुर्यमय चरित्र में चाहे जीवन की अनेक रूपता न हो, किन्तु उसका स्पंदन एक विशेष रूप से दिखाई देता था। यहाँ पर कबीर, जायसी, तुलसी के काव्य में आलंबन के साथ तुलना करना, अप्रासांगिक न होगा।

कबीर का ब्रह्म मुसलमानी भावना के अनुकूल परात्पर था। उसका निवास या तो सातवें, नहीं चौदहवें लोक से भी परे था, या अपने ही शरीर के अन्दर हठयोग की त्रिपुटी में। जायसी के उपास्य में अतीत की अपेक्षा व्यापकता का भाव अधिक था। उसका प्रतिविंब संसार में देखा जा सकता था। जायसी ने पद्मावती की छाया जो दर्पण में दिखलाई थी, उसका एक आध्यात्मिक पक्ष भी था। संसार में परमात्मा का प्रतिविम्ब ही दिखाई देता है। संसार का जितना सौन्दर्य है, वह उसी की छाया है—नैन जु देखा कमल भा। किन्तु उसका विम्ब मन और कल्पना के भी अगोचर था। इसीसे घबरा कर सूर ने कहा था—

रूप-रेख गुन-जाति जुगति विनु निरालंब कित धावै।
अगोचर सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन पद गावै ॥

यही बात उन्होंने गोपियों द्वारा उद्धव से कहलाई है, देखिए:—

रूप न रेख बरन बपु जाकै संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सों प्रीति निरंतर क्यों निबहै री माई ॥
जल बिनु तरङ्ग चित्र बिनु भीतिहि बिनु चित ही चतुराई।
अब ब्रज में यह नई रीति कछु ऊधो आनि चलाई ॥

मालूम नहीं आचार्य शुक्लजी को रहस्यवाद और निर्गुणवाद

के खण्डन की प्रेरणा कहाँ से मिली थी। शायद उनका मानसिक झुकाव ही ऐसा था, किन्तु ऐसे पदों ने उनकी भावनाओं को और भी दृढ़ बना दिया होगा। तुलसी ने भी सगुण का पक्ष लिया, किन्तु उन्होंने दोनों को एक करके एक दूसरे के सापेक्ष बना दिया। तुलसी ने सगुण को निर्गुण की अपेक्षा महत्ता भी अधिक दी है, किन्तु वे सूर की अपेक्षा निर्गुण की ओर अधिक झुके हुए हैं। वे अपने इष्टदेव को किसी पक्ष से खाली नहीं रखना चाहते थे—

'अगुन अरूप अलख जग जोई। भगत हेत सगुन सो होई ॥

सूर में भी निर्गुण का स्थान है, किन्तु कुछ कम। कोरे ज्ञानवाद का दोनों ने विरोध किया, तुलसी ने सीधे तौर से और कुछ अक्खड़पन के साथ—अलखहिं का लखे राम नाम जपु नीचु। सूर और नन्ददास ने कान्ता की सम्मत काव्य बात को सगुण की प्रतिष्ठा करायी है, सार्थक करते हुए काव्यात्मक ढङ्ग से नन्ददासजी कुछ दार्शनिकता परभी उतर आए थे।

सूर और तुलसी दोनों सगुणवादी थे, किन्तु दोनों की उपासना में भेद था। तुलसी के उपास्य थे मर्यादापुरुषोत्तम राजाधिराज कोशलाधिपति राम। उनके साथ बराबरी की बात सोचना भी पाप था, इसीलिए उन्होंने दास्यभाव को अपनाया। किंतु सूर आदि अष्टछाप के कवि और उनके प्रभाव के रसखानदि अन्य कवि जनों के उपास्य थे यशोदानन्दन, गोपालों और गोपियों के प्रेमी और उनके जीवन में घुल मिल जाने वाले कृष्ण। तुलसीदासजी ने प्राकृतजनों का गुणगान के लिए तो कह दिया—सिर धुनि गिरा लागि पछिताना, यह बात कृष्ण भक्त कवियों में भी थी—सन्तन कहा सीकरि सो काम। किन्तु भगवत् पक्ष में वे ऐश्वर्य के उपासक थे। वे अज, निर्गुण, निरञ्जन, निर्विकार, सच्चिदानन्द ब्रह्म को पृथ्वी पर तो उतार लाये, किन्तु अपने मर्यादावाद से मजबूर होकर राजसिंहासन से नीचे न ला सके। राजसिंहासन से नीचे उतरे तो बनवासी होकर। यद्यपि तुलसी के दास्य भाव में हृदय की कोमलता और आत्मसमर्पण की भावना थी, तथापि उसमें न सूर की सी प्रेमकी घनिष्ठता और न वात्सल्य की चिंता—

संदेसो देवकी सों कहियो
हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत नित रहियो।

सूर के अतिरिक्त और कहीं खोजने पर भी कठिनाई से मिलेगी। कृष्ण-भक्त कवियों ने परस्पर भगवान को मर्त्यलोक में उतार कर उन्हें पूर्ण समता भाव से लोकजीवन में घुला-मिला दिया।

'मैं सब पतितन को टीकौ' आदि

प्रारम्भिक पदों को छोड़ कर जो महाप्रभु वल्लभाचार्य से मिलने के पूर्व के कहे जा सकते हैं, सूर में पूर्ण समता भाव के दर्शन होते हैं। ग्वाल-बाल भगवान से निर्भीकता पूर्वक कहला सकते हैं—खेलत में को काकौ गुसैयाँ.........अति अधिकार जनावत याते हैं कछु अधिक तुम्हारे गैयाँ? यह समता भाव तो सूर के वात्सल्य को तुलसी की पहुँच के बाहर बना देता है। कृष्ण की प्रेमिकाएँ उनकी राजनीतिज्ञता की हँसी उड़ा सकती हैं—हरि हैं राजनीति पढ़ि आयो। उनके शहरीपन के साज-शृङ्गार पर व्यंग्य कर सकती है "दिना चार ते पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ, सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भये चिकनियाँ'। ब्रज-भाषा के कृष्णकाव्य में जो ग्रामीण प्राकृतिक जीवन की पुकार है, वह अन्यत्र नहीं सुनाई पड़ती। मथुरा के वैभव में डूबे हुए स्वयं कृष्ण भगवान वृन्दावन के प्राकृतिक जीवन को नहीं भूल सकते—

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी और कुञ्जन की छाँहीं॥
वै सुरभी वे वच्छ दोहिनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहिगहि बाँहीं॥

प्रेम में भय और विषमता को स्थान नहीं रहता। इसी प्रेम-भाव से प्रेरित गोपियाँ कृष्ण का मूल्य एक छला से भी ठहराती हैं—जाहिगो काहू तिय को अभूषण तौं लला न छला के मोल विकै हो। घनानन्द ने प्रेमोन्मत्त गोपियों द्वारा कृष्ण को जो रस रूप में बिकवाया है—

एक डोलै बेचति गुपालहि दहेड़ी धरैं
नैननि समायौ सोई बैननि जनातु है।

× × ×

गोकुल बधून की बिकानि पै।

रीतिकाल

ब्रजभाषा की दूसरी मूल प्रवृत्ति रीतिकाल की है। हम देख चुके हैं कि साहित्य की गति क्रिया-प्रतिक्रियात्मक स्पन्दन के रूप में होती है, प्रतिक्रियाएँ भी कभी-कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल। वीरगाथा काव्य राज्याश्रित था। भक्तिकाल की कम से कम तीन धाराएँ राज्याश्रय से स्वतन्त्र थीं। कृष्ण भक्तों का 'सन्तन कहा सीकरी सों काम। आवत जात पन्हैयाँ टूटैं, बिसरि गयो हरि नाम।' और तुलसी के 'कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' इस बात के प्रमाण हैं। प्रेममार्गी कवियों ने यदि बादशाही वक्त की वन्दना की तो उसका कारण था। वह यह कि एक तो मसनवीन पद्धति में बादशाहे वक्त की बन्दना एक आवश्यक विधि थी और दूसरा यह कि वह बादशाहे वक्त उनके ही धर्म का था। इससे कोई हीनता भाव नहीं उत्पन्न हो सकता था। रीतिकाल में कविता फिर राज्याश्रित हो गई।

मुसलमान लोग भारत में बस गये थे। अकबर ने राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिए थे और उन्हें अपना विश्वासपात्र बनाकर दासता की बेड़ियों पर सोने का झोल फेर दिया था या कहिए कि मखमल का खोल चढ़ा दिया था। हिन्दू बाज पराये पानि पर बैठ कर अपने ही जाति के पक्षियों को मारने लगे थे। मुगल साम्राज्य में कला को भी प्रोत्साहन मिला—आगरे में शाहजहाँ का प्रस्तरीभूत अश्रुविन्दु शुभ्रज्योत्स्ना धौत धवल कीर्तिस्तम्भ के रूप में आज भी वर्तमान है। पराजय मनोवृत्ति की दूसरी प्रतिक्रिया—यानी हास-विलास के आनन्द की मदिरा में अपनी निराशा को डुबो देने की प्रवृत्ति जाग उठी थी। वीर केसरी धर्मध्वजा के फहराने वाले महाराणा प्रताप के स्वातन्त्र्य के जीतोड़ प्रयासों की विफलता ने राजाओं को संघर्ष के पथ से हटाकर वातावरण की अनुकूलता प्राप्त करने के पथ की ओर अग्रसर कर दिया था। जयदेव ने जो हरिस्मरण की रसायन में विलास, कला, कौतूहल का अवलेह मिलाया था उसकी सञ्जीवनी-शक्ति सूर और कृष्णभक्त कवियों तक सीमित रही। पीछे से रसायन की मात्रा तो कम होती गई और अवलेह का मधुर-मधुर स्वाद अधिक प्रबल हो गया। साधारण लोगों को तो नहीं,

सम्पन्न वर्ग को उस अवलेह मात्र की मदिरा की सी चाट पड़ गई। साधन साध्य बन गया। कविजनों को राधा-गोविन्द के स्मरण का बहाना चाहे थोड़ी-बहुत मात्रा में रहा हो किन्तु उनकी कविता यशसे और अर्थकृते और कुछ-कुछ व्यवहारविदे के भौतिक ध्येय की साधिका बन गयी। कवि जनों को भी खस के मकानों, गुलगुली गिलमों और सम्भव है सुराही और प्याले का भी चस्का लग गया। कभी-कभी बिहारी जैसे सिद्धहस्त कवि दुसह दुराज प्रजान की बात अलङ्कार विधान में ले आते थे किन्तु बहुत कम। संस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थों की रस, ध्वनि और अलङ्कारों के विवेचन से बोझिल परम्परा हिन्दी के भक्ति-प्रधान काव्य के प्रवाह में ऊपर तो न उठ सकी किन्तु कभी-कभी बिहारी की ससिमुखी सटपटाती हुई नायिका की भाँति भक्ति के घूँघट पट में से रहीम के बरव नायिका भेद, तुलसी की बरवै रामायण, सूर के दृष्टि-कूटों और नन्ददास की रसमञ्जरी आदि के रूप में अपनी मोहक रूप छटा की पावक झर की झार दिखा जाती थी। 'सोहै न नारि नारि के रूपा' का सिद्धान्त घोर कलिकाल में अपनी स्वयं सिद्धता खो बैठी—भक्ति भी भाषा के चक्कर में पड़ गई। सूर आदि कृष्ण भक्त कवियों में जो तुलसी के मर्यादावाद की प्रतिक्रिया थी वह स्वस्थ थी किन्तु रीतिकालीन कवियों में वह अस्वस्थ हो गयी। कविता कामिनी ने रीति की गगरी से विवेचन का जल ठनका दिया और वह रीति की रीती गगरी अलङ्कार रूप से धारण कर बनाव शृङ्गार के साथ चलने लगी। भक्ति का सांप (मैं उसको बुरे अर्थ में नहीं लेता हूँ, बनियों में तो नाग को माया कहते हैं) निकल गया लोग लकीर पीटते रह गये। भक्तिकालकी भाव-समन्विति पर प्रकाश डालते हुए मैंने कहा था कि इस काल की प्रवृत्तियों में नामोपासना का एक व्यापक सूत्र था। वह सूत्र क्षीण हो गया था किन्तु टूटा नहीं था। शायद इसी प्रभाव में [illegible] काव्य के प्रतिष्ठित आलम्बन राधा और कृष्ण का नाम रीति-[illegible] अनुस्यूत हो गया। इस प्रवृत्ति में जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास [illegible] गौड़िया सम्प्रदाय के उज्ज्वल नीलमणि आदि ग्रन्थों का भी [illegible] पड़ा। यद्यपि गौड़िया सम्प्रदाय की रस विवेचन पद्धति कुछ भिन्न थी तथापि उस साहित्य में राधामाधव नायक-नायिका के ही [illegible] अधिक देखे गये थे। इन सब कारणों से जहाँ प्राचीन रीति सम्बन्धी कविता लौकिक थी वहाँ हिन्दी की नायिका-भेद की कविता [illegible]

गयो किन्तु उसकी अलौकिता नाम को ही थी। हिन्दू जाति की धार्मिक मनोवृत्ति अपना क्षीण प्रभाव बनाये हुए थी। किन्तु राधा-कृष्ण का उसमें से व्यक्तित्व निकल गया था। रीतिकालीन कवि उनके हरप्रकार के नायक और नायिका के रूप में देखे जा सकते थे। भक्त भी अपने इष्टदेव को हर एक रूप में देखता है किन्तु रीतिकाल के कवि उनको एक रूपमें संस्कृत में लिखने वाले को अपने पाठक के मानसिक धरातल की परवाह नहीं रहती। वह चुने हुए पण्डितों के ही लिए लिखता है। विचारे हिन्दी वाले को यह ख्याल रहता है कि भाषा में भी लिखकर जिसकी प्रसन्नता के लिए लिखा जाय वह भी न समझे तो लिखना सार्थक नहीं। इसीलिए बिहारी जैसे कवि ने रीति का मानसिक आधार ही लिया। लक्षणों को अपने मन में रख कर उदाहरण को ही दिया। कुछ लोग जैसे मतिराम, देव, पद्माकर, भिखारीदास आदि ने लक्षण के साथ उदाहरण रचे। केशव ने रीतिग्रन्थ भी लिखे और अपनी रामचन्द्रिका को अपनी कविप्रिया के उदाहरण रूप लक्ष्य ग्रन्थ बनाया। उस समय शृङ्गार का आधार रहा। भूषण ने रीतिकाल के प्रभाव में लक्षण ग्रन्थ तो लिखा किन्तु उदाहरण वीररस का दिया।

कुछ लोग आचार्य शुक्लजी से सहमत होकर केशव को रीतिकाल का प्रवर्तक न मानें किन्तु लक्षणों के लिए उदाहरण ग्रन्थ लिखने की रीतिकाल की मूल प्रवृत्ति का पूर्ण विकास हमको केशव में मिलता है। यह तो चुनाव की बात है कि केशव ने दण्डी और रुय्यक की अलङ्कार को सर्वस्व माननेवाली पद्धति को अपनाया और अधिकांश लोगों ने चिन्तामणि के अनुकरण में रस और ध्वनि की समन्वित पद्धति को। खैर उसके प्रवर्तक चाहे कोई हों वह खूब पल्लवित हुआ; उसमें हम फूल और पल्लवों की शोभा देख सकते हैं, फलों के कम दर्शन होते हैं। उसमें कला लोकोपयोगिता के परे थी—वह स्वामिनः सुखाय और स्वान्तः सुखाय दोनों थी, किन्तु स्वामिनः सुखाय का पक्ष कुछ प्रबल था। उसमें वर्ण्य की अपेक्षा वर्णन का अधिक महत्व था। जहाँ तुलसीदासजी अपनी कविता का श्रेय 'इहि मैं रघुपति नाथ उदारा' को देते हैं, वहाँ भगवान का नाम रहता अवश्य था किन्तु नाम मात्र रूप से। जहाँ भक्तिकाल की कविता में कवि

अपने व्यक्तित्व की परवाह न करते हुए भी अपने व्यक्तित्व को छिपा नहीं सका था वहाँ रीतिकाल का कवि व्यक्तित्व की परवाह न करते हुए भी उसे सामने नहीं ला सका है। वह बँधे हुए ढाँचों में ही अपने व्यक्तित्व को व्यक्त कर सका है। इसीलिए उसमें निजीपन का अभाव रहा है।

रीतिकाल में राधाकृष्ण का सजीव व्यक्तित्व नहीं रहा था वरन् वे रीति के साँचों में ढली मूर्तियाँ बन गये थे। कविता हुक्मी हो गई थी। सरस्वती देवी का हंस मोतियों के प्रलोभन से उनको शीघ्र ही कवियों की जिह्वा पर ला खड़ा कर देता था। कभी-कभी वे स्वयं भी कृपा करती थीं। रीतिकाल में निरा घासलेट साहित्य ही नहीं उत्पन्न हुआ।

रीतिकालीन कवियों में कला का प्राधान्य होते हुए भी कृष्ण-लीला का आधार था और उस आधार पर कुछ सजीव कविताएँ भी हुईं। इस आधार को पकड़ लेने से संस्कृत कवियों की अपेक्षा हिन्दी के कवियों के उदाहरणों में कुछ अधिक सजीवता थी। रीति-काल में कृष्णभक्त कवियों के प्रबन्धात्मक मुक्तक भी शुद्ध मुक्तक रह गये। राज दरबारों की प्रतिद्वन्द्विताओं ने मुक्तक की चाल को और भी बढ़ा दिया था। रस-प्रेम की अपेक्षा रस-लोलुपता बढ़ गयी थी। लोलुप मन अधीर हो जाता है। धैर्य स्वास्थ्य का चिह्न है। प्रबन्ध-काव्य का रस धैर्य साध्य है। राजसी अधीरता में मुक्तक का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। ये मुक्तक पदों के रूप में न होकर कवित्त सवैयों के रूप में प्रचार में आये।

कृष्ण-काव्य के मुक्तकों में जीवन की अनेक रूपता किसी अंश में थी। रीतिकाल के कवियों में वह अनेक रूपता केवल शृङ्गार की अनेक रूपता रह गयी थी। चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत उज्ज्वल नीलमणि और भक्ति रसामृतसिंधु आदि ग्रन्थ लिखे गये उनमें नायिकाओं के काफी भेद-प्रभेद थे किन्तु वे कुछ मनोवैज्ञानिक अधिक थे। भक्ति के प्राधान्य के कारण विलासिता का अंश रहा भी हो तो अवचेतनगत ही रहा, ऊपर नहीं उभरा। हिन्दी के कवियों में वह ऊपर उभर आया था। संस्कृत के श्लोकों और प्राकृत की गाथाओं में भी वह ऊपर आ गया था। हिन्दी के कवियों ने फिर भी संयम से।

काम लिया। हिन्दी कवियों के रीति ग्रन्थों में राधागोविंद के सुमिरन के बहानों से तो कुछ और अधिक रहा, किन्तु उसमें बौद्धिक भाव-पक्ष की अपेक्षा कलापक्ष अधिक रहा। बौद्धिक पक्ष का नितान्त अभाव न था। केशव, देव, भिखारीदास के विवेचन अपनी पद्धति की नवीनता रखते हैं। सरदार कवि की रसिकप्रिया में रसनिष्पत्ति जैसे जटिल प्रश्न की कुछ चलती सी व्याख्या हुई है। आचार्यत्व और कवित्व शक्ति दोनों साथ-साथ चल सकती हैं। पण्डितराज जगन्नाथ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। 'कवि करोति काव्यानि रसंजानाति पंडित:' अथवा 'उपजहि अनत अनत छबि लहहि' की बात सर्वथा ठीक नहीं है। पण्डितराज ने तो इस बात को दावे से कहा कि उन्होंने सब उदाहरण अपने ही दिये हैं। कस्तूर के सृजन की क्षमता रखने वाला मृग क्या अन्य कुसुमों के सौरभ से आकर्षित हो सकता है! ऐसी ही मनोवृत्ति देव, मतिराम आदि हिन्दी के कवियों की थी। पंडितराज भी शाहजहाँ के समकालीन थे। और वे भी उसी विलासिता के प्रवाह में बह रहे थे किन्तु उनमें कवित्व और आचार्यत्व दोनों का अच्छा समन्वय था। हिन्दी में विवेचन की अपेक्षाकृत कमी के दो कारण मालूम पड़ते हैं—एक तो गद्य का विकसित न होना, दूसरा आश्रयदाताओं के मानसिक धरातल को स्पर्श करने की इच्छा। इसीलिए नायिकाभेद का कुछ प्राधान्य रहा। फिर भी वे नारी सौन्दर्य के कुछ मनमोहक चित्र दे सके। बिहारी का 'खरी पातरी हू लगति भरी सी देह', देव का 'गोरौ सो मुख ओरौ सौ बिलानों जात' अथवा मतिराम का 'ज्यों-ज्यों निहारे नियरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरे सी निकाई' ऐसे वर्णन हिन्दी कविता के शृङ्गार कहे जा सकते हैं। रीतिकाल की कविता में सामाजिक चित्रण है किन्तु उसमें इतर, चोवा, जरतारी की सारी, झूले और फाग का ही उल्लेख अधिक है। उन वर्णनों में हृदय की अपेक्षा कल्पना, शब्दजाल और अलङ्कारिक चमत्कार का प्राधान्य है। गुलगुली गिलमों की सम्पन्नता में पोषित स्वच्छन्द कल्पना और रूप विवेचन की सहज मोहकता के साथ सस्ती वाहवाही लूटने की चाह अथवा नायिकाओं के वर्णन में सूक्ष्म भेद-प्रभेदों से पाठकों में या अल्लाहगौड़ों में भी और की सी आश्चर्य-चमत्कृत होने की भावना उत्पन्न करने की महत्वाकांक्षा नायिका-भेद सम्बन्धी साहित्य के बाहुल्य के लिए उत्तरदायी कही

जा सकती है। उस साहित्य में भाव विश्लेषण की सूक्ष्मता और वर्णन के सौष्ठव का साहित्यिक मूल्य अवश्य है किन्तु नैतिक मूल्यों का प्राय: अभाव ही रहा। उस समय की वर्णनशैली अब भी ब्रजभाषा साहित्य को प्रभावित कर रही है।

वर्तमान युग

हिन्दी साहित्य के वर्तमान युग का प्रारम्भ भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र से हुआ। भारतेन्दुजी में यद्यपि भक्तिकाल की भक्तिभावना और रीति-काल की चमत्कारिकता के प्रभाव प्रबल रूप से वर्तमान हैं तथापि उनकी कविता द्वारा रीतिकाल के अवरुद्ध वातावरण में देशभक्ति और समाज-सुधार के नये वातायन खुल गये हैं। हरिश्चन्द्र-युग में ब्रज-भाषा का प्राधान्य रहा। एक बार फिर कविता में नये जीवन का सञ्चार हुआ और कविता देशभक्ति की ओर झुकी। द्विवेदी युग में खड़ीबोली की कविता ने धीरे-धीरे ब्रजभाषा का स्थान ले लिया, फिर भी ब्रजभाषा का जादू मिटा नहीं। श्रुति माधुर्य के लिए अब भी वह अपनी प्रतिद्वंद्विनी नहीं रखती।

यद्यपि ब्रजभाषा में खड़ीबोली की अपेक्षा रूढ़िवाद और प्राचीन परम्परा का आदर अधिक है तथापि वह नये प्रभावों से अछूती न रह सकी। वह भी देशभक्ति की भावनाओं को अपनाने में समर्थ हुई। कविवर सत्यनारायणजी उन कवियों में से हैं जिनकी वाणी में देशभक्ति कालमय रूप से प्रस्फुटित हुई। उन्होंने देशभक्ति के स्फुट गीत भी लिखे, 'माधव आप सदा के कोरे' के कोरे आदि पदों में सरकार पर कुछ व्यंग्य भी किये और भ्रमरदूत जैसे खण्डकाव्यों में प्रसङ्गवश देशभक्ति की भावनाओं का समावेश कर दिया। 'देशहि में भयो विदेश' अथवा 'हम कोरिन कौं कारे ही कारे' आदि की उक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं।

नवीन युग के ब्रजभाषी कवियों में सत्यनारायणजी के अति-रिक्त रत्नाकरजी, वियोगीहरि, शबरी काव्य के कर्ता, दैत्यवंश के कर्ता हरदयालसिंहजी, दुलारेलालजी प्रमुख हैं। रत्नाकरजी में तो प्राचीन प्रभाव ही अधिक है किन्तु गङ्गावतरण में देश की कल्याण की चाह अधिक है और उसमें वीरकाव्य का सा ओज भी

है। वियोगी हरि जी ने तो वीरसतसई ही लिखी और वीररस के कुछ गीत भी लिखे हैं। शबरी काव्य भी युग की माँग को पूरा करती है। दैत्यवंश में उपेक्षितों को प्रकाश में लाने और पतितों में भी उच्चता दिखाने की भावना है। इस प्रकार ब्रजभाषा साहित्य भी समय की अनुकूलता प्राप्त कर रहा है और उसके लिए यह लच्छन सार्थक नहीं हो सकता कि उसने विलासिता के साहित्य की पुष्टि की है। उसमें सभी प्रकार के भाव मिल सकते हैं। देखने के लिए सहृदय दृष्टि चाहिए। 'गुन न हिरानों गन गाहक हिरानों है'।
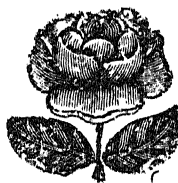
आर्थिक और राजनैतिक रोगों की महौषधि

ब्रज संस्कृति

[पं० श्रीराम शर्मा, सम्पादक 'विशालभारत']

गान्धीवाद, ग्राम्य संस्कृति और ब्रज-संस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं। राजनैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् चारों ओर से ग्राम-सुधार, ग्रामोन्नति, आर्थिक उन्नति तथा वास्तविक स्वतन्त्रता की चर्चा है, पर लोग भारत की आजादी के मूल तत्वों को भूल जाते हैं और अमेरिकनों तथा योरोपियनों की नकल में लगे हुए हैं। जब अँगरेज लोग भारतवर्ष में आये तब उन्होंने देखा कि भारतवर्ष की जान देहातों में है और देहातों से ही हर प्रकार की शक्ति का सृजन होता है। देहात की शक्ति का विवेचन यदि एक ही शब्द में करें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि भारतवर्ष की शक्ति का कारण यह था कि प्रत्येक घर में कताई होती थी, और घर घर रोटी होती थी। अँग्रेजों ने अपनी कूटनीति तथा आर्थिक प्रलोभनों से घर-घर की कताई तो लगभग मिटादी पर घर-घर से वे रोटी करना नहीं खतम कर सके। दूसरी बात जो अँग्रेजों ने की वह यह कि गाँव वालों को उन्होंने कच्चा माल तैयार करने का साधन बना दिया। पहले हमारे जीवन का मूल-मन्त्र यह था कि जो काम घर में हो सकता है वह गाँव में न कराया जाय। जो काम गाँव में हो सकता है वह शहर में न कराया जाय और जो शहर में हो सकता है वह विदेश में न कराया जाय। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लगभग स्वावलंबी था और इसीलिए संस्कृति और साहित्य की सरिता शहरों की ओर प्रवाहित होती थी। देहात ही एक प्रकार से भारतीय जीवन के 'डाइनमो' थे। पर अंगरेजी राज्य ने स्थिति बदल दी और आज भी भारतवासी मोह-पाश में बँधे हुए हैं। सबसे दुख की बात तो यह है कि पढ़ेलिखों पर झूँठी अँगरेजियत का जादू सा चढ़ा हुआ है। कहने को तो वे ब्रज-संस्कृति की चर्चा करेंगे पर आचरणों में तो वे अँग्रेजियत के नक्काल बने हुए हैं। ब्रज-संस्कृति—उसे आप गाँधीवाद तथा ग्राम संस्कृति भी कह सकते हैं—के मानी हैं सर्वोदय-समाज की [illegible] है '[illegible]'। स्पष्ट शब्दों में ब्रज-

संस्कृति के मानी हैं अपने कपड़े की समस्या को स्वयं हल करना, अपने कते हुए सूत के कपड़े पहनना, गोपालन करना और गाय के दूध से बनी हुई वस्तुओं का इस्तैमाल करना। भगवान कृष्ण ने जो गायें चराई थीं उसके पीछे ग्राम-संस्कृति का प्रचार था। भैंसों की चर्चा तो उस समय कहीं थी ही नहीं। कंस जैसे राक्षसी वृति के व्यक्ति ने भी भैंसों की शरण नहीं ली, पर आज तो मथुरा में शायद ही कोई ऐसी दुकान हो जहाँ शुद्ध गोरस मिलता हो। कितने हैं ऐसे ब्रजवासी जो देहाती उद्योग-धन्धों पर ही अवलंबित हों। इस प्रकार के जीवन के मानी कट्टर पन्थी होने के नहीं वरन् एक विचार के अनुयायी होने के मानी जरूर हैं। जो व्यक्ति अपने हाथ के कते सूत का कपड़ा पहनेगा, जो गोरस पान करेगा, तथा दुग्ध से बनी चीजों को खायगा तथा देहात के उद्योग-धन्धों से बनी वस्तुओं का ही व्यवहार करेगा वह साम्राज्य-वादी प्रवृत्ति का पोषक नहीं हो सकता। वह आसुरी शक्ति, कंस की शक्ति का पुजारी बन ही नहीं सकता।

आज देश में उथल-पुथल मची हुई है। आजादी के चौराहे पर हम खड़े हुए हैं। हमारी संभावनाएँ इतनी विशाल हैं कि हम चाहें तो कंस के मार्ग को, साम्राज्यवादी मार्ग को—पूँजीवादी मार्ग को—अपना सकते हैं और दूसरे देशों की स्वतंत्रता का अपहरण भी कर सकते हैं। ऐसी शक्ति हममें है। अगले २० वर्षों में हम इस योग्य हो जायँगे यदि हमने उपर्युक्त कंसवृत्ति को अपनाया कि हम बर्मा, मलाया, स्याम, अफ़गानिस्तान और ईरान की आजादी को हड़प लें। पर यदि हम कृष्ण के अनुयायी बने, ब्रज-संस्कृति को अपनाया तो हमें, अँगरेजियत के चकाचौंध से मुँह मोड़ना पड़ेगा और कपड़ों के लिए मिलों का वहिष्कार करना होगा, गाय की पूँछ पकड़नी होगी अर्थात् हमें भौतिक मूल्यांकन की अपेक्षा मानवी मूल्यांकन को महत्व देना होगा और उसी पर आचरण करना होगा। इस समय तो कंस प्रवृत्ति का बोला-बाला है। ब्रज-संस्कृति भगवान कृष्ण का संदेश तो किताबों और पुस्तकों में ही रह गया है, व्यावहारिक जीवन में तो कंस का बोलबाला है—

यदि हम इस प्रश्न पर गंभीरता से सोचें तो हमें मानना पड़ेगा कि ब्रज-संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए ही नहीं वरन् उसके प्रचार

के लिए काफी संघर्ष करना है। उसी संघर्ष में कृष्ण के आधुनिक रूप महात्मागाँधी का बलिदान हुआ है। अगर ब्रज-संस्कृति की स्थापना और पुनरुद्धार की कभी भी आवश्यकता है, यदि अणुबम्ब का कोई भी जवाब है तो वह है ब्रज-संस्कृति। यह ठीक है कि ब्रज-संस्कृति के प्रचार में और उस पर आचरण करने पर कठिनाइयाँ आयँगी पर कठिनाइयों से कृष्ण के कृपालुओं को क्या डर। अपने ही धर्म में अपना कर्तव्य-पालन करने में यदि निधन भी हो जाय तो वह श्रेयस्कर है—परधर्म कंस के धर्म—साम्राज्यवादी धर्म का आचरण करना तो भयावह है।

(पृष्ठ २२८ का शेषांश)

पृ० ४२	शब्द नामक ज्योति etc	,,	दूसरे शब्द नामक ज्योति—जीवन के अंधेरे कोठों को प्रकाश से भर देगी।
पृ० ४३	डंडार्गल	,,	दंडार्गल
पृ० ४४	लोवा	,,	लावा
पृ० ४४	अघ्रि	,,	अंघि
पृ० ४५	विचरने	,,	विचारने
पृ० ४५	कठोर	,,	कठिन

शुद्धि-पत्र

पृ० ३० (नीचे से दूसरी पंक्ति)--सब का हित सुख निहित है। निहित का कुछ अर्थ नहीं, अपूर्ण होना चाहिए।

पृ० ३२	अपरिचित	होना चाहिए	अपरिमित
पृ० ३२	अर्थवत्ता	,,	अर्थवत्ता
पृ० ३२	सोइद	,,	'खोइद'
पृ० ३२	भाँग	,,	धान
पृ० ३२	हाथ	,,	दृश्य
पृ० ३२	एक दिन	,,	प्रतिदिन
पृ० ३३	अप्रिय बातचीत	,,	अगली बातचीत
पृ० ३३	अहिछला	,,	अहिच्छत्रा
पृ० ३४ (पं० १)	गढाकर	,,	गड़ाकर
पृ० ३४	पारस्परिक शंका	,,	पारस्परिक संकर
पृ० ३४	करावदार	,,	कटावदार
पृ० ३५	दाको-गाको	,,	दालो-गालो
पृ० ३५	वृद्धि सम्बन्धी	,,	वृष्टि सम्बन्धी
पृ० ३५	ऋतुओं	,,	ऋतुओं
पृ० ३५	व्ययस्था	,,	व्याख्या
पृ० ३५	फगुनेटा	,,	फगुनहटा
पृ० ३६	वौर	,,	बौर
पृ० ३६	ऐसी मत आइयो	,,	रीती मत आइयो
पृ० ३७	मखड़ी	,,	रूखड़ी
पृ० ३७	व्याक जंघा	,,	काक जंघा
पृ० ३७	पाठन	,,	पाठ्य
पृ० ३७	परीक्षा के बोझ	,,	परीक्षा का बोझ
पृ० ३८	क्रोंच	,,	क्रौंच
पृ० ३८	अययन	,,	अध्ययन
पृ० ४१	णाण-प्रा०	,,	प्रा० णाण

(शेष पृष्ठ २२७ पर)

यक्ष प्रतिमा, परखम से प्राप्त

(पृ० ११८, १५३)
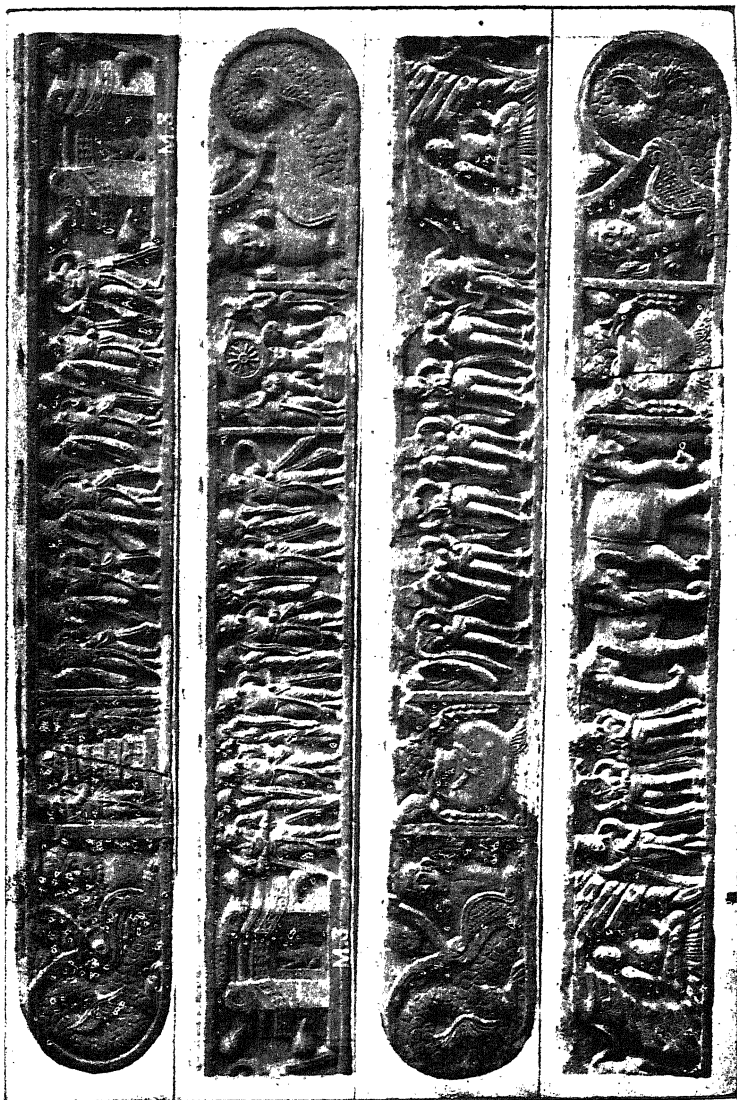
तोरण की धन्नी। ऊपर के दो अंशों में धर्मचक्र, बोधिवृक्ष तथा स्तूप की पूजा और नीचे के भागों में बुद्ध के दर्शनार्थ अप्सराओं के सहित इन्द्र का आगमन दिखाया गया है। (पृ० ११०)।
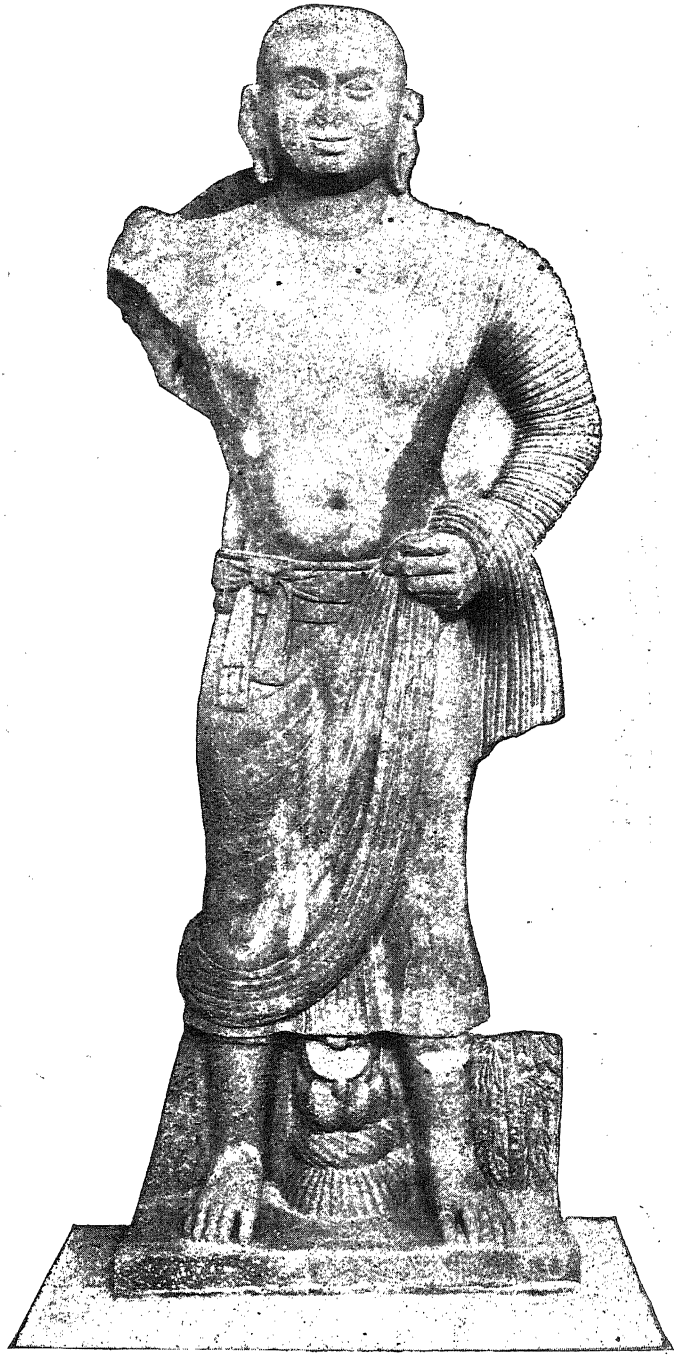
बुद्ध की मूर्ति । महोली (प्राचीन मधुपुरी) से । पृ० ११६, १५५ ।

बुद्ध; कटरा केशवदेव से प्राप्त
पृ० ११६, १५५

कुषाण सम्राट कनिष्क

पृ० १२४, १५६
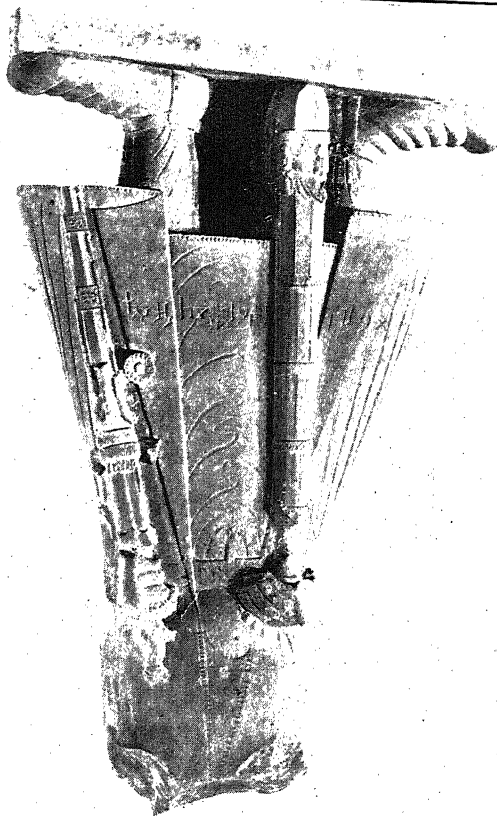
BAS-RELIEF SHOWING A SHIVA LINGA ON A PEDESTAL, BEING WORSHIPPED BY TWO MEN WEARING COATS AND TROUSERS, WHICH WAS THE NORTHERN DRESS. THERE IS A BEAUTIFUL VINE BORDER ON PROPER LEFT SIDE. FROM A SITE IN DAMPIER PARK. KUSHANA PERIOD.

शिलापट्ट जिस पर उदीच्यवेषधारी दो मनुष्यों के द्वारा शिवलिंग की पूजा का दृश्य है और बाईं ओर सुन्दर अंगूरी बेल का किनारा है। कुषाणकाल।

विदेशी शक राज-पुरुषों द्वारा शिवलिंग की पूजा का दृश्य

पृष्ठ १३०

(नं० ए० ५)
भगवान बुद्ध; गुप्तकाल
पृ० ११६, १५७

(नं० २६४६) देवताओं के सेनापति स्वामि कार्तिकेय.
पृ० १२२, १५६ ।

(नं० ३०४१) लक्ष्मी अभिषेक
पृ० १६७

कमलालया लक्ष्मी (सामने तथा पीछे का दृश्य)

पृ० १२४।

आसवपायी कुबेर
पृ० १६७

(नं० २८००) मधुपान का दृश्य
पृ० १६८, १६७

(नं० २८८०) अग्नि

० १२३, १६८

(नं० ३६) गुप्तकालीन चतुर्भुजी विष्णु (दो हाथ बिल्कुल टूट गये हैं) पृ० १२१ ।

कामदेव (कुषाणकाल)
पृ० १२३
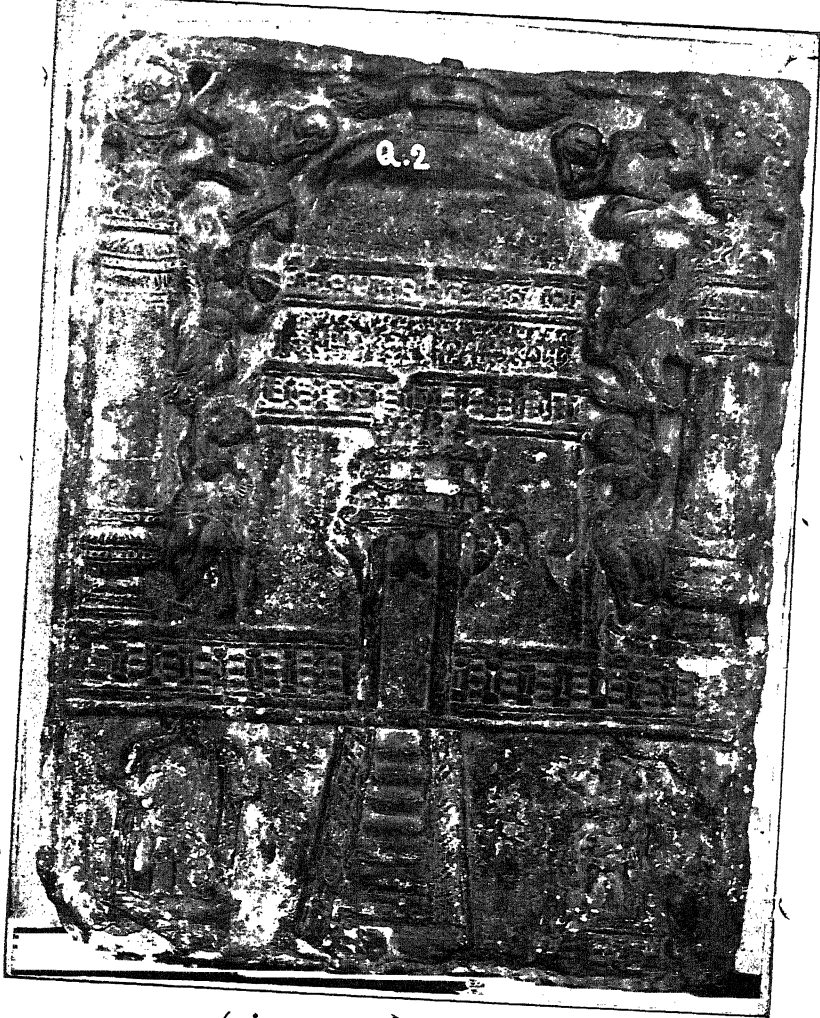
(नं० क्यू २) जैन आयाग पट्ट

पृ० ११४

(बी० १) जैन तीर्थङ्कर

पृ० ११४, १६८

(नं० २८८६) नृसिंह और वाराह मुख सहित विश्वरूप महाविष्णु पृ० १२१, १६८ ।
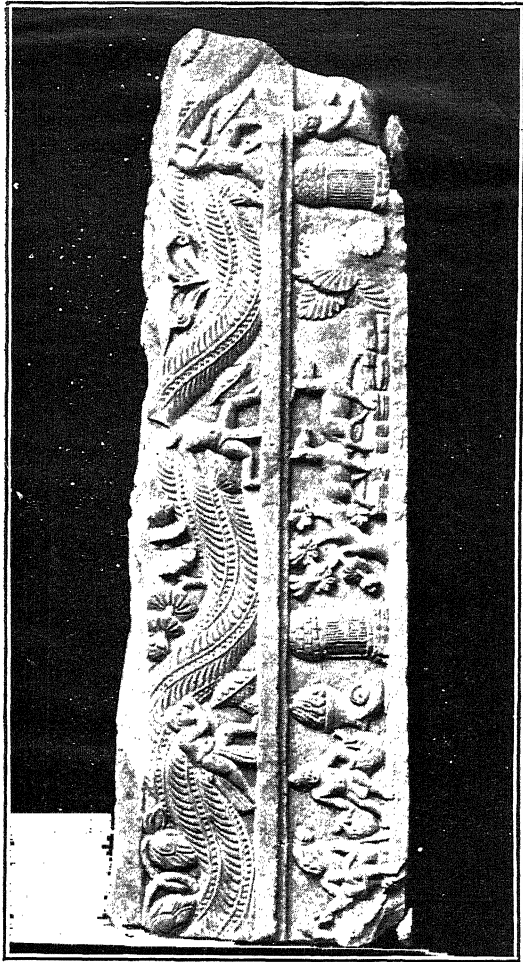
आश्रम का दृश्य

पृ० १११

(जे २) शुङ्गकालीन नर्तकी यक्षी
पृ० ११६, १३५
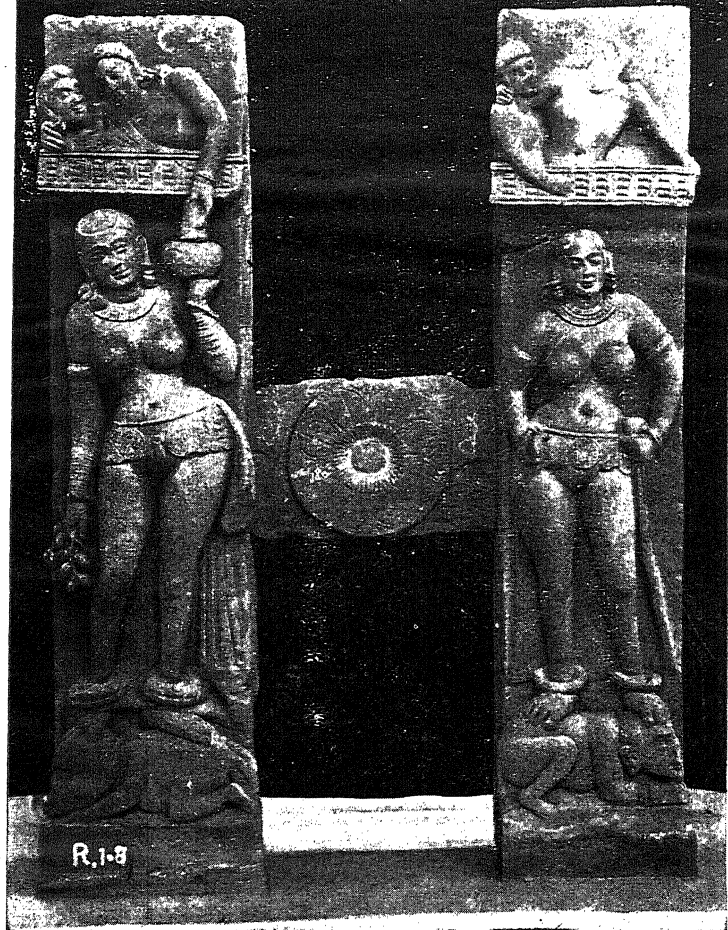
(नं० १५१) अंगूर का गुच्छा
- और सुरापात्र लिए हुए सुन्दरी
पृ० ११८।

(नं० जे० ४) वेदिका स्तम्भ
जिस पर स्नानागार निकल
कर तन ढकती हुई युवती चित्रित
पृ० ११८

लोभी शुक का निवारण करती हुई ललना
पृ० १२७

(जे ५५) अशोक वृक्ष को पैर से ताड़ित करती हुई वेदिका स्त्री । पृ० ११८ ।

(१५०४) स्नान के बाद बालों को निचोड़ती हुई स्त्री । नीचे हंस पानी की बूंदों को मोती समझ खड़ा है । पृ० ११८ ।

व्यजनधारिणी स्त्री (शुङ्गकाल)

पृ० १२८

मिट्टी की बनी मातृदेवी की मूर्ति, मौर्यकाल

पृ० १२५

जननी और शिशु
पृ० १२८